प्रकाशक—
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा ।



लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
प्रथम संस्करण
१९७२



मुद्रक:—
युग निर्माण प्रेस,
मथुरा ।



मूल्य—
दो रुपया

विषय—सूची



अज्ञान के बन्धन काटें—
उन्मुक्त जीवन जयें

—०—

आनन्द और उसका उद्गम स्थान

सुख की अकाक्षा हममें से हर एक को स्वभावतः ही होती है और सभी चाहते हैं कि निरन्तर सुख साधन उपलब्ध होते रहे। पर देखा जाता है कि इस आकाक्षा की पूर्ति कोई विरले ही कर पाते है। क्योकि हम यह ढूँढ नही पाते कि आनन्द का उद्गम स्थान कहाँ है ? जब तक यह पता न हो कि वस्तु कहाँ मिलेगी तब तक अनुमान से जहाँ तहाँ खोजते फिरने से क्या लाभ ? आनन्द की तलाश हम वस्तुओ और साधनो मे करते है, पर वे वेचारे जड़ पदार्थ जब स्वय ही चेतनाहीन है तो हमे सुख कहाँ से प्रदान करें ? आनन्द का उद्गम स्थान चेतन, आत्मा एवम् ब्रह्म है। यदि उसी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सके तो सुख प्राप्ति की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति, ठाठ वाट, विषय, भोग, अहङ्कार, अधिकार आदि जिन कार्यो मे लोग आमतौर से प्रसन्न रहते है उनके बारे मे गम्भीरता से विचार किया जाय तो दूसरा ही गुल खिलता है। कोई स्त्री बहुत रूपवती है, उसके प्रति बड़ा मोह और आकर्षण लगता है, पर उस शरीर मे रहने वाली जीवात्मा अपने से कटु वचन बोले, दुर्व्यवहार करे, शत्रुता रखे तो वह आकर्षण कहाँ रहेगा ? मर जाने पर बहुत सुन्दर और प्रिय लगने वाले शरीर भी नष्ट करने और दूर हटाने पडते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रूप यौवन का आकर्षण धोखा है। सन्तोष तो उसके भीतर रहने वाली सूक्ष्म

सत्ता के उन्मुख या विमुख होने पर निर्भर है। अपने कुरूप स्वजन, स्त्री-बच्चे भी सच्चा प्रेम होने पर कितने प्रिय लगते है ? पर पडोसी के सुन्दर घर वालो के प्रति भी अपना कोई आकर्षण नही होता। इससे प्रतीत होता है कि रूपवान शरीरो के सान्निध्य मे सुख प्राप्ति की मान्यता मिथ्या है। प्रेम, आत्मीयता तथा सद्‌भावना के आधार पर ही वह आकर्षण आनन्ददायक एवम् सफल हो सकता है। आत्मीयता की, गृहणी और रमणी की दृष्टि मे जब किसी रूपसी को देखा जाता है तो ही उसमे आकर्षण पैदा होता है अन्यथा शत्रुता रखने वाली रूपवती से कहाँ किसी को आकर्षण होना है ? रूप मे झलकने वाला आकर्षण इस बात पर निर्भर है कि उसे रमणी की मोह-मयी दृष्टि से देखा गया या नही।

इसी प्रकार धन सम्पत्ति का आकर्षण भी ममता के ऊपर ही निर्भर है। जब तक वह अपने अधिकार मे है तभी तक आनन्ददायक रहती है। जो [illegible], चाँदी, सोना, मकान, मोटर जमीन जायदाद आदि आज अपने है और [illegible] प्रिय लगते है। वे यदि बेच देने पर, या छिन जाने पर, या किसी अन्य [illegible] हो जाते है तो उनमे फिर कुछ भी आकर्षण नही रहता। [illegible]-टूटते, नष्ट होते रहे तो इससे किसी को कोई दुःख नही होता। [illegible]। जिस चीज को जरा-सी आँच आने पर अपना जी तिल-मिला उठता [illegible] होने पर उपेक्षापूर्ण बनी हुई है इसका कारण 'अपनेपन' [illegible] ही है। इससे सिद्ध होता है कि 'जो अपना है [illegible] मे आकर्षण है।

[illegible] दूसरे को अप्रिय लगती हैं। स्वाद मिर्च- [illegible] होगा। नदी, वन पर्वतो के प्राकृ- [illegible] अपनी दृष्टि के अनुरूप ही दे [illegible] यात्री लोग मुग्ध होते है, उसके चित्र [illegible], उन्ही वनो को वहाँ के निवासी [illegible] कही अन्यत्र सुविधा की

जगह चल कर रहा जाय। उन्हे शहरो मे आकर्षण और वनो मे कुरूपता लगती है : जगल काटने वालो को वही सुन्दर उपवन एक व्यापार-क्षेत्र मात्र प्रतीत होता है। नाव खेने वालो को, मछली पकडने वालो को नदी तालाव एक खेत या कारखाने मात्र दीखते हैं। उनके सौदर्य का उन्हे आभास भी नही होता।

देवता विश्वास और भावना के आधार पर फल देते हैं। जिनमे श्रद्धा नही उनके लिए देव–मन्दिरो मे प्रतिष्ठापित प्रतिमायें पत्थर का एक छोटा खिलौना मात्र हैं। तीर्थो, देव-मन्दिरो ऐतिहासिक स्थानों मे भावना उल्लसित करने वाला वतावरण केवल उन्ही को मिलता है जिसके मन मे उस प्रकार की भावनाये विद्यमान है। अन्यथा साधारण दृष्टि से वे स्थान भी अन्य मामूली जगहो की तरह ही हैं। वहाँ के निवासी तो उन स्थानो को विलकुल साधारण सी वस्तु समझते है। गगा भी एक मामूली नदी मात्र है। भावना के विना इसका पवित्रता प्रदान करने वाला गुण कहाँ टिक पाता है ?

इस दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जड पदार्थो मे वस्तुत: कुछ भी आकर्षण, कुछ भी लाभ, कुछ भी आनन्द दायक तत्व नही है। जो कुछ आकर्षण और आनन्द यहाँ दिखाई पडता है उसका आधार केवल चेतन है। कहीं तो हमारा अपनाचेतन किन्ही वस्तुओ को अपना मान कर उन्हे प्यार करने पर, उन्हे प्रिय समझने लगता है, और कही दूसरो का चेतन अपनी उत्कृष्ट प्रवृत्तियो का परिचय देकर हमे उल्लास और आह्लाद से ओत-प्रोत कर देता है। जड पदार्थ तो केवल सुविधा के स्थूल उपकरण मात्र है। हम उनके पीछे पागल न वनें वरन् चेतन का महत्व समझे, उसका सही मूल्याकन करे, उसी की समीपता और उपलब्धि का प्रयत्न करे।

चेतना का अजस्र भडार अपने भीतर भरा हुआ है। उसका जितना सम्मिश्रण जिस वस्तु मे कर देंगे वह उतनी ही सुन्दर दीखने लगेगी, प्रिय लगने लगेगी। ऐसी दशा मे हम ससार के बाहरी पदार्थों के पीछे क्यो भागे ?

प्रिय की प्राप्ति के लिए इधर-उधर क्यों मारे-मारे फिरे ? जब अपनी भावना पर ही वस्तुओं का प्रिय लगना निर्भर है तो जो उपयोगी आवश्यक और उपलब्ध वस्तुये हों उन्ही से अपनापन क्यों न करने लगे ? उन्हे ही आत्मीयता की दृष्टि से देख कर प्रिय पात्र क्यो न बनाले । सन्तोष का यही मार्ग है । प्रिय किसे मानना, किसे न मानना यही असंतोष का कारण है । जो प्राप्त नहीं, जो दूर है, जो स्वप्नलोक मे लटका हुआ है, उसके प्रति ममता का आरोपण करके मनुष्य असन्तुष्ट और खिन्न रहता है। किन्तु जब वह उपलब्ध वस्तुओं को अच्छी, उचित, पर्याप्त और सुविधाजनक मान लेता है तो अभावग्रस्त दीखने वाला व्यक्ति भी बहुत सुखी और संतुष्ट बन जाता है ।

प्रत्येक पदार्थ मे चेतन ब्रह्म की सूक्ष्म सत्ता मौजूद है । उसी को हम जब ममतामय दृष्टिकोण के साथ देखते हैं तो सौन्दर्य और आनन्द का आभास होने लगता है । वस्तुत यह स्थूल जगत जड मात्र है । जड मे न तो जीवन है और न आनन्द । उसको महत्व क्यों दे और क्यों उसके संचय, सान्निध्य के पीछे पागल बने ? जब भावना ही एक मात्र आनन्द का उद्‌गम है तो उसका परिष्कार करके ससार के समस्त जड चेतन को आत्मीयता की भावना के साथ क्यो न देखा करे, जिससे यह सब कुछ आनन्दमय ही आनन्दमय प्रतीत होने लगे ।

सुख शान्ति के स्वर्ण सूत्र

[illegible] है दुख है, असन्तोष है तो निश्चय ही हमारी जीवन विधि [illegible] त्रुटियाँ तथा कमियाँ समाविष्ट हैं जिसके कारण वह हर्ष, [illegible] शान्ति प्राप्त नही होती जो मानव जीवन [illegible] होनी चाहिए । इसके विपरीत आये दिन हम [illegible] वृष्णाये बढती जा रही है । जीवन इतना [illegible] है कि जीवन एक भार और ससार [illegible] है । यह सब अशान्तियाँ और चिन्ताये

इस बात का प्रमाण हैं कि निश्चय ही हम त्रुटियो से भरा एक अनुपयुक्त जीवन जी रहे है।

किन्तु, केवल यह जान लेना भर ही पर्याप्त नही है कि हम एक अनुपयुक्त जीवन चलाये जा रहे है। इस सूचना का महत्व तो तव है जब हम अपनी जीवन विधि को वदले और उसे अनुपयुक्त गति विरत कर उपयुक्त गति मे डालें। मूर्ख और अज्ञानियो की जहाँ एक किस्म यह होती है कि वे अपनी भूलो, त्रुटियो तथा कमियो को समझ नही पाते। वहाँ एक इससे भी वढकर समझ वे लोग होते हैं जो अपनी न्यूनताएँ जान लेने पर भी उन्हे दूर करने की ओर से उदासीन वने रहते हैं। जो कुछ जैसा चला जा रहा है चलने देते है। इस प्रकार का प्रमाद मनुष्य जेसे विवेकशील प्राणी को शोभा नहीं देता। यह प्रमाद तो पशुओं की विरासत है कि वे जिस स्थान पर जिस गति-विधि मे पड़ गये सो पड गये। उसको वदलने की ओर ध्यान नही देते फिर चाहे वह उपयुक्त हो या अनुपयुक्त। वेचारे पशुओ के लिए तो एक विवशता है। वे न किसी वात पर विचार कर सकते है और न योजनापूर्वक कोई परिवर्तन ला सकते हैं। जिस जीवन विधि मे उन्हे पडना पडता है उसी के अनुरूप अपने को अभ्यस्त वना लेते है और एक जड सहनशीलता के साथ उसे सहते चले जाते हैं। इस प्राकृत विवशता के कारण वे क्षमा किए जा सकते हैं। किन्तु मनुष्य, जो परम पुनीत, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का अ ग है, इस प्रकार के पाशविक प्रमाद के लिए क्षमा नहीं किया जा सकता। वह अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप शिव और सुन्दर जीवन जीने के लिए वाध्य है। जो इस प्रतिवन्धन का सम्मान नही करता वह विद्रोही ही नहीं नास्तिक तक कहा जा सकता है। अस्तु, इस कलङ्क को मिटा डालने के लिये आज से ही तत्पर हो जाना चाहिये। अनुपयुक्त जीवनविधि का त्याग कर उपयुक्त जीवन-पद्धति की ओर वढ चलना चाहिये। जिससे सामान्य जीवन की समस्याओ का समाधान होगा ही साथ ही आत्म-कल्याण की सराधक आध्यात्मिक दिशा मे भी प्रगति हो। और इस प्रकार लोक तथा परलोक दोनो की रचना एक साथ होती चले। क्योंकि परलोक सुधारने सँभालने के लिये मनुष्य को अलग से

कोई जीवन नही दिया जाता। यही एक जीवन है जिसमे लोक के साथ पर-लोक की भी खोज खबर रखनी होगी।

ससार की ऐसी कोई भी समस्या नही जिसका समाधान सम्भव न हो। फिर मनुष्य तो विशेष तौर पर शक्तियो का स्वामी है। यदि उसके पास लगन, निष्ठा और प्रयत्न की कमी न हो तो उसके लिए सब कुछ सरल सम्भव है। जीवन को अनुपयुक्त से उपयुक्त बनाने के भी अनेक उपाय हैं। उनमे से चार बाते ऐसी है जिनका जीवन मे समावेश कर लेने से समस्या का बहुत कुछ समाधान हो सकता है। इन चार बातो को जीवन निर्माण के चार सोपान अथवा आधार भी कहा जा सकता है। जीवन निर्माण के चार सोपान हैं—सभी प्रकार की तुच्छताओं का त्याग—मिथ्यात्व को छोडकर सरलता का ग्रहण—व्यसनो से मुक्त होने का साहस और जीवन मे अध्यात्मवाद का समावेश करना। निश्चित है यदि मनुष्य जीवन मे इन चार बातो को धारण करले तो उसका अनुपयुक्त जीवन उपयुक्त बन जायेगा। उसके जीवन से अशान्ति तथा असन्तोष का तिरोधान हो जायगा और उसके स्थान पर आनन्द और उल्लास, शान्ति और सन्तोष की वृद्धि होने लगेगी।

तुच्छता मानव-जीवन की बहुत बडी कमी है। यह एक ऐसा दोष है जो मनुष्य को न केवल सङ्कीर्ण बल्कि कृपण और पतित भी बना देता है। तुच्छता मनुष्य को उदारता, दान, दया, प्रेम अथवा करुणा की सत्प्रवृत्तियो से [illegible] कर देती है। स्वार्थ और केवल स्वार्थ ही उसके जीवन का लक्ष्य बन [illegible]। तुच्छता से प्रोत्साहित दरिद्रता की प्रवृत्ति उसे भाव मे भी अभाव [illegible] मे भी विपन्नता का अनुभव कराती रहती है। इसलिये उसकी [illegible] सीमा तक बढ जाती है कि सग्रह करने मे फिर वह [illegible] कर्तव्य अपने पराये, शोषण-पोषण आदि किसी [illegible]। उसको शीतलता का मानव सुलभ गुण छोड कर [illegible] के समक्ष उसे सारे आदर्श सारी मर्या-[illegible] लगती है। इस प्रकार तुच्छता से प्रता,

ड़ित मनुष्य के जीवन मे शोक-सन्ताप और अशान्ति, असन्तोष के सिवाय किस आनन्द को अवसर मिल सकता है ?

तुच्छता मानव जीवन का वहुत घृणित दोष है। इसका तुरन्त त्याग कर देना चाहिए। उदारता और महानता की वृत्ति मनुष्य के लिए दो अलकार माने गये है। उन्हे धारण करना ही उसकी शोभा है। उदारता का गुण अपने दूसरे सजातीय गुण त्याग को प्रोत्साहित करता है। त्याग को किसी तपस्या से कम महत्व नही दिया गया है। त्याग भाव से सग्रह करने वाला सत्पुरुप भूलकर भी ऐसे साधन तथा उपाय प्रयोग नही करता जो नीति अथवा आदर्श के विरुद्ध हों। वह तो नीति एव न्यायपूर्वक कमाये गये धन धान्य मे ही सुखी और सन्तुष्ट रहता है। त्यागी पुरुष के पास वितृष्णाए उसी प्रकार नही आ पाती जैसे शिक्षा के निकट भयङ्कर नही आ पाता। उदार पुरुष जो कुछ उपार्जित करता है वह केवल अपने स्वार्थ मे ही नही लगाता। उसका ध्यान परमार्थ पर भी रहता है। वह जानता है कि लोक-परलोक की स्थिति परमार्थ पुण्य पर ही आधारित है। इस आधार को पुष्ट तथा अधिकाधिक स्थायी वनाने के लिए वह दान देता, अपनी उपलब्धियो का उचित भाग दूसरो की सहायता मे लगाता, परोपकार करता और धर्म की रक्षा और वृद्धि के लिए जो कुछ वन पडता है करने मे कृपणता व सकोच नही करता। इस प्रकार पारमार्थिक त्याग से आभूषित सत्पुरुप मे जव 'सर्व भूत हितरता—का भाव लेकर दया, करुणा तथा प्रेम का स्रोत जाग पडता है तव ससार का ऐसा कौन सा खेद, दुःख अथवा अशान्ति हो सकती है जो उसे छू भी सके। तुच्छता से मुक्त उदार पुरुष का 'आनन्द और मङ्गल' पर जन्म तथा कर्म सिद्ध—दोनों प्रकार का अधिकार होता है। जो निश्चय ही उसे मिलता है। इस निसर्ग नीति मे अपवाद की सम्भावना कदापि सम्भव नही है।

'मिथ्यात्व का मारा व्यक्ति अपने जीवन मे सुख शान्ति की एक नन्ही बूंद के लिए भी तरसता रहता है। रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार अथवा पूजा-पाठ आदि जिस भी क्रिया-प्रक्रिया मे मिथ्यात्व का दोष लग जायगा वहीं पाप की तरह त्रास दायिनी वन जाएगी। मिथ्या रहन-सहन वाले लोग

कृत्य प्रमादी आलसी तथा प्रदर्शनवादी होते हैं। वे यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि वे इतने भाग्यवान है कि कम से कम काम करके भी अधिक से अधिक आराम और शान-शौकत मे रहते है। उनका विचार रहता है कि उनका प्रदर्शन पूर्ण रहन-सहन देखकर लोग शायद उन्हें अमीर समझकर प्रभावित होंगे। उनका मान-सम्मान करेंगे। किन्तु सच्ची बात यह है कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे मिथ्यावादियो से घृणा किये बिना नही रहता। जहाँ, इस कर्म-प्रधान संसार मे परिश्रम तथा पुरुषार्थ का महत्व है वहाँ बिना कुछ किये आराम का जीवन जीने वाले निश्चित ही चोर होते हैं, फिर चाहे वे कामचोर हो श्रमचोर हो अथवा अधिकार चोर हो। चोर चोर ही है किसी वस्तु का ही [illegible] न हो। वह सच्चे समाज और सत्पुरुषो के बीच आदर का पात्र नही बन [illegible]ता। [illegible] तिरस्कार ही प्राप्त होगा जो उसके जीवन को अशान्त तथा [illegible] बनाकर ही छोडता है।

[illegible] का मिथ्यात्व स्वास्थ्य की ही होली रच देता है। रोगी तथा [illegible] के लिए सन्ताप के हाथो मे सौंप देता है। इसी [illegible] का मिथ्यात्व भी मनुष्य को अपमान तथा अवहेलना का [illegible]। बाहर कुछ और भीतर कुछ और, मन का भाव दुष्ट [illegible] भलाई की बात और भीतर स्वार्थ की विभी- [illegible] आचार वाला व्यक्ति अपनी खैरियत कब [illegible], झूठ का भंडा फूटेगा, और तब उस [illegible] है इसे तो कोई भुक्त-भोगी ही जान

[illegible] परलोक को भी नष्ट कर [illegible] है उसमे ही जब सिर छिपाने का [illegible] परलोक मे कौन रक्षा कर [illegible] है। निकृष्ट कामनाओ को साथ [illegible] श्रद्धा, आस्था या भक्ति [illegible] है वह भी देवताओ

से छल करता है । अथवा किसी साधना से देव कृपा प्राप्त कर लेने पर उसका उपयोग परमार्थ मे न करके स्वार्थ में करने वाला अथवा उसके प्रभाव से दूसरो को भयभीत या आतंकित करने वाला देवताओ से छल ही नही करता बल्कि उन दिव्य शक्तियो से साथ विश्वासघात करता है । ऐसा विश्वासघाती किसी मूल्य पर भी क्षमा नही किया जाता । वह दिन रात आत्म-जन्य ताप से तो जलता ही रहता है साथ ही रौरव जैसे नरक मे उसके लिए स्थान की व्यवस्था होती रहती है । ऐसे मिथ्यावादी लोगो को सुख-शान्ति के लिये तरसते रहना स्वाभाविक ही है । अस्तु जीवन मे सुख-शान्ति पाने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह सच्चा और सरल जीवन अपनाये ।

बन्धन, बन्धन ही हैं वे किसी प्रकार के भी क्यों न हो सदा दुखदायी ही होते हैं । शारीरिक अथवा मानसिक किसी प्रकार के बन्धनो मे बँधा व्यक्ति कभी भी सुख शांति नही पा सकता । इसलिये मनुष्य को चाहिये, यदि वह जीवन मे सुख-शांति के दर्शन करना चाहता है तो हर प्रकार के उन बन्धनो को तोडकर फेंक दे जो अनुचित एवम् अनुपयुक्त हो । सड़ी-गली रूढियाँ, अर्थहीन रीति-रिवाज, अन्ध परम्परायें तथा मूढ-विश्वास—वे चाहे सामाजिक हो अथवा धार्मिक किसी प्रकार उपयुक्त नही है । समाज की ताडना, अज्ञान का भय और संस्कारो का संघर्ष सहन करके भी इस प्रकार के अनुचित बन्धनों को त्याग कर मुक्त हो जाना चाहिए । इन बाह्य बन्धनो के साथ-साथ व्यसनो, वासनाओ तथा तृष्णाओ के बन्धन भी नही ही रखने चाहिये जो मनुष्य जितना अधिक व्यसनो, वासनाओ तथा तृष्णाओ से रहित होता है वह उतना ही अधिक शान्त और सुखी रहता है । व्यसनो अथवा वासनाओ मे आनन्द की कल्पना अज्ञान के सिवाय और कुछ नही है । अज्ञान को त्याग कर व्यसनो तथा वासनाओ की हानियाँ समझनी और उनका त्याग कर ही देना चाहिए । व्यसनो तथा वासनाओ का त्याग सुख-शांति का सहज साधक माना गया है ।

सुख-शांति के यह चार स्तम्भ तब तक अपूर्ण तथा निर्बल ही रहेगे जब तक मुख्य आधार अध्यात्मवाद का जीवन मे समावेश नही किया जायगा । एक तो अध्यात्मवादी स्वभाव से ही प्रसन्न चेता होता है । ज्ञान तथा विवेक

की प्रसन्नता और परमात्मा मे अटल विश्वास और उसके न्याय मे अखण्ड आस्था रखने से ससार का कोई भी शोक-सन्ताप उसे प्रभावित नही कर पाता। वह सहज भाव से सुखी तथा सन्तुष्ट रहता है। पुन जीवन मे अध्यात्मवाद का आश्रय लेने से मनुष्य की तुच्छता, मिथ्यात्व तथा बन्धनो के प्रति आप से आप विरक्ति होने लगती है। इन तीन दोषो को दूर करने मे अधिक संघर्ष नही करना पडता फिर भी यदि मनुष्य ने उपर्युक्त तीनो दोषो को दूर कर भी दिया किन्तु अध्यात्मवाद की उपेक्षा कर दी तो वह एकबार शरीर से भले ही सुखी हो जाये पर आत्मा से दुखी ही बना रहेगा। शारीरिक सुख लौकिक तथा क्षण भगुर है। सच्चा सुख आत्मिक सुख ही है वह स्थिर भी होता है और उसका विस्तार लोक से परलोक तक जाता है। अस्तु सच्चे तथा स्थिर सुख शान्ति को पाने के लिये जीवन मे अध्यात्मवाद का समावेश [illegible] रहता है। इस प्रकार यदि मनुष्य जीवन सुधार के उपर्युक्त [illegible] को [illegible] कर अपनी गतिविधि का सञ्चालन करे तो उसका [illegible] न उपयुक्त बन जाये। उसकी सारी समस्याओ का समाधान [illegible] लिए सुख-शान्ति की जरा भी कमी न रह जाये।

सुख और दुःख क्या है?

[illegible] का अपना कोई अस्तित्व नही है। इनका कोई [illegible] आकार भी नही है। सुख-दुख मनुष्य की अनुभूति [illegible] अथवा एक अनुभूति विशेष के ही रूप [illegible] है। सुख दुख मनुष्य के मानस पुत्र है ऐसा [illegible] नहीं। मनुष्य की अपनी विशेष अनु-[illegible] सुख दुख का जन्म होता है। बाह्य परि-[illegible] नहीं क्योंकि जिन परिस्थितियो मे एक [illegible] है, सुख अनुभव करता है। [illegible] और इन दोनो मे [illegible] मनुष्य की स्थिति असन्तुलित

एवं विचित्र-सी हो जाती है। उसके सोचने समझने तथा मूल्यांकन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। किसी भी परिस्थिति मे सुख का अनुभव करके अत्यन्त प्रसन्न होना, हर्षातिरेक हो जाना तथा दु ख के क्षणो मे रोना बुद्धि के मोहित हो जाने के लक्षण है। इस तरह की अवस्था मे सही-सही सोचने और ठीक काम करने की क्षमता नही रहती। मनुष्य उल्टा-सीधा सोचता है। उल्टे-सीधे काम करता है।

कई लोग व्यक्ति विशेष को अपना अत्यन्त निकटस्थ मान लेते है। फिर अधिकार भावनायुक्त व्यवहार करते है। विविध प्रयोजनों का आदान-प्रदान होने लगता है। एक दूसरे से कुछ न कुछ अपेक्षाये रखनें लगते हैं। जब तक गाडी भली प्रकार चलती है तो लोग सुख का अनुभव करते है। लेकिन जब दूसरो से अपनी अपेक्षायें पूरी न हो या जैसा चाहते हैं वैसा प्रतिदान उनसे नही मिले तो मनुष्य दु.खी होने लगता है।

अक्सर अनुकूलताओ मे सुखी और प्रतिकूलताओ मे दु खी होना हमारा स्वभाव बन गया है। उन्नति के, लाभ के, फल-प्राप्ति के क्षणो मे हमे बेहद खुशी होती है तो कुछ न मिलने पर, लाभ न होनें पर, दु ख भी कम नही होता। लेकिन इसका आधार तो स्वार्थ, प्रतिफल, लगाव, अधिकार आदि की भावना है। इन्हे हटा कर देखा जाय तो सुख-दु ख का कोई अस्तित्व ही शेष न रहेगा। दोनो ही नि.शेष हो जाये गे।

सुख दु ख का सम्बन्ध मनुष्य की भावात्मक स्थिति से मुख्य है। जैसा मनुष्य का भावना स्तर होगा उसी के रूप मे सुख दु.ख की अनुभूति होगी। जिनमे उदार दिव्य सद्भावनाओ का समुद्र उमडता रहता है, वे हर समय प्रसन्न सुखी आनन्दित रहते है। स्वय तथा ससार और इसके पदार्थो को प्रभु का मङ्गलमय उपवन समझने वाले महात्मा को पद-पद पर सुख के सिवा कुछ और रहता ही नही। कॉंटो मे भी वे फूलो की तरह मुस्कराते हुए सुखी रहते हैं। कठिनाइयो मे भी उनका मुँह कभी नही कुम्हलाता।

इसके विपरीत सङ्कीर्णमना, हीन भावना वाले, राग-द्वेष से प्रेरित

स्वभाव वाले व्यक्तियो को यह ससार दु खो का आगार मालूम होगा। ऐसे व्यक्ति कभी नही कहेगे कि "हम सुखी है।" वे दु ख मे ही जीते है और दु ख मे ही मरते है। दुर्भावनाये ही दु खो की जनक है। इसी तरह वे है जिनका पूरा ध्यान अपने पन पर ही है। उनका भी दु खी रहना स्वाभाविक है। केवल अपने को सुखी देखने वाले, अपना हित, अपना लाभ चाहने वाले अपना ही एकमात्र ध्यान रखने वाले सङ्कीर्णमना व्यक्तियो को सदैव मनचाहे परिणाम तो मिलते नही। अत. अधिकतर दु ख और रोना-धोना ही इस तरह के लोगो के पल्ले पडता है।

आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य का भावनास्तर सार्वभौमिक हो। अपनी सुख दु ख की अनुभूति का आधार जितना व्यापक होगा उतना ही मनुष्य सुख दु ख की मोहमयी माया से ऊंचा रहेगा। सबके साथ सुखी रहना सबके साथ दु खी, अर्थात् सबके सुख मे अपना सुख देखना और सबके दुख मे अपना दु ख। इससे मनुष्य न तो सुख मे पागल बनेगा न दु ख मे रोयेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिन्, सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत् ॥

"सभी सुखी हो सभी नीरोग हो। सभी कल्याण प्राप्त करे कोई भी दुखी न हो।" इस तरह की चाह ज्यो-ज्यो बढती जायगी हमारे हृदय में स्थायी सुख शान्ति सन्तोष की भी वृद्धि होगी। इसी तरह सबके दु खो को अपनी अनुभूति का आधार बनाने वाले व्यक्तियो के स्वय के दु ख द्वन्द्व स्वत. तिरोहित हो जाते हैं। दु ख का भार जब मनुष्य अपनी ही पीठ पर लादे फिरता है तो उसका दु खमय रह कर दु ख मे ही अन्त होना स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त [illegible]-व्यक्ति को सुख-दु ख की लहरो में अधिक थपेड़े खाने पड़ते हैं। क्षण-क्षण बदलने वाले, बनने और बिगडने वाले, पदार्थ, [illegible] जब [illegible] व्यक्ति के मानस को झकझोर डालते है तो उसे ससार दु खमय [illegible] पड़ता है। [illegible] इस तरह के व्यक्ति एक अपनी [illegible] दुनिया [illegible] है। लेकिन [illegible] कल्पना साकार नहीं होती और

'दूसरे अरुचि के परिणाम मिलते है तो संवेदनाशील व्यक्ति दुखी होता है। संसार यथार्थ की कठोर धरती है। यहाँ सभी तरह की परिस्थितियो के झोके आते रहते है। पद-पद पर प्राप्त परिस्थिति का स्वागत कर दृढता के साथ आगे बढने वाले ही दुःख द्वन्द्वों पर काबू पा सकते हैं।

मानव जीवन दुहरी कार्य प्रणाली का सयोग स्थल है। मनुष्य लेता है और त्याग भी करता है। निरन्तर श्वास लेता है और प्रश्वास छोडता है। भोजन करता है किन्तु दूसरे रूप मे उसका त्याग भी करता है। इस तरह धनात्मक और ऋणात्मक दोनो क्रियाओ मे ही मनुष्य जीवन की वास्तविकता है। दोनों मे से एक का अभाव मृत्यु है। दोनो के सम्मिलित प्रयास से ही जीवन पुष्ट बनता है। बिजली की ऋण और धन दोनो धारायें चलती हैं तभी प्रयोजन सिद्ध होता है। अकेली एक धारा कुछ नही कर सकती। इसी तरह ससार मे सुख भी है और दुःख भी। न्याय है और अन्याय भी। प्रकाश है और अन्धेरा भी। ससार सुन्दर उपवन है तो कठोर कारागार भी। जन्म के साथ मृत्यु और मृत्यु के साथ जन्म जुडा हुआ है। इस तरह विभिन्न धनात्मक और ऋणात्मक पक्ष मिलकर जीवन को पुष्ट करने का काम करते हैं, केवल मात्र सुख की चाह करना और दुख द्वन्द्वो मे बचने की लालसा रखना एकाङ्गी है। प्रकृति का नियम तो बदलता नही इससे उलटे मनुष्य मे भीरुता,मानसिक दुर्बलता को पोषण मिलताहै मनुष्य को निराशामय चिन्ता का सामना करना पडता।

जो कुछ भी जीवन मे प्राप्त हो जैसी भी परिस्थिति आये उसे जीवन का वरदान मान कर सन्तुष्ट और प्रसन्न रहने मे कजूसी न की जाय। वस्तुत. सुख दुःख, अनुकूल प्रतिकूल, धनात्मक-ऋणात्मक परिस्थितियो मे जीवन बलिष्ठ और पुष्ट होता है। इनमे से निकल कर ही मनुष्य निरामय, अनावृत्त और निर्मल बन सकता है। वैसे इनसे बचने का कोई रास्ता भी नही है। फिर क्यो नही हर परिस्थिति मे सहज भाव मे स्थिर रहा जाय? जब ससार को चलाने वाले नियम परिवर्तनशील ऋणात्मक और धनात्मक है तो फिर अपनी एक-सी दुनियाँ बसाने की कल्पना

या सुखो के अरमानो को पोषण क्यो किया जाय ? ... क्लान्ति ही मिलेगी। दृढ चट्टान की तरह जीवन ... अनुकूल प्रतिकूल हवाओ मे तटस्थ भाव से मस्त ... परिस्थिति मे सन्तुष्ट रहना सुख दुःख से मुक्त रहने का ...

वस्तुत सुख के सम्बन्ध मे ही लोगो के विचार सही ... होते। कई बार जिन्हे मनुष्य सुख मानकर चलता है वे ही ... कारण बन जाते है। बहुत से लोग शारीरिक सुखो को ... लेते है। आराम करना, प्रमादी जीवन बिताने मे कई लोग सुख ... करते हैं किन्तु ये विषवत् दुःखकर होते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखम् मोहनमात्मन ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थम् तत्तामसमुदाहृतम् ॥

"भोग काल मे तथा परिणाम मे भी आत्मा को मोहित ... निद्रा आलस्य प्रमाद आदि से उत्पन्न सुख तामसी-राक्षसी ... है।" वस्तुत निद्रा आलस्य प्रमाद मे जीवन बिताने से मनुष्य के मन, बुद्धि, ... सुप्त हो जाते हैं। इससे मनुष्य की शारीरिक मानसिक क्षमतायें भी नष्ट ... जाती है। और फिर जीवन के सघर्षो मे मनुष्य को जल्दी हार बैठना पड़ता है। इस तरह के सुख से मनुष्य की क्रियाशक्ति को मोरचा लग जाता है। हाथ पाँव बेकार और शरीर रुग्ण हो जाता है।

कई लोग अच्छा खाना, पीना, विषय भोग मे रत रहना ही सुख का आधार मान कर चलते है। खाओ पीओ और मौज उडाओ की नीति का अनुसरण करते है। किन्तु प्रारम्भ मे सुखकर लगने वाले परिणाम मे विषवत् मालूम पडते है। गीताकार ने लिखा है—

"विषयेन्द्रिय सयोगा यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुख राजस स्मृतम् ॥"

"विषय और इन्द्रियो के सयोग से होने वाले सुख राजसिक सुख कह-लाते है जिनका परिणाम विष तुल्य ही होता है।" वस्तुत ससार के भोगो मे लिप्त रहना, विषयो मे आसक्त रहना प्रारम्भ मे तो सुखकर लगता है किन्तु

परिणाम मे मनुष्य पर हलाहल विष की तरह प्रभाव डालता है। मनुष्य तन, मन से हीन अस्वस्थ हो तडप-तडप कर प्राण देता है। जिस तरह पतङ्ग दीपक की लौ का स्पर्शसुख प्राप्त करने की चेष्टा करके झुलस जाता है अपने पंखो से हाथ धो बैठता है और फिर तडप-तड़प कर प्राण देता है उसी तरह विविध भोग, विषय वासना की पूर्ति पहले तो सुखकर लगती है किन्तु फिर अनेको शारीरिक मानसिक कष्टो का कारण बन जाती है। साथ ही मनुष्य मे अनेको राजसिक भाव, अहङ्कार, दर्प, मान, बडाई, प्रतिष्ठा की भावना, दम्भ, विषय चिन्तन, शान शौकत आदि बढ़ जाते हैं जो सम्पूर्ण जीवन को विकारमय बना देते है और इनके कारण मनुष्य को अनेको कष्टो का सामना करना पडता है।

सासारिक पदार्थ इन्द्रियाँ तथा इच्छाओ से सम्बन्ध रखने वाले सभी सुखों का अन्त दुःख मे ही होता है। क्योंकि ये सभी नाशवान क्षणभगुर परिवर्तनशील होते है। ससार और मनुष्य की परिस्थितियाँ हर क्षण बदलती हैं। आज कोई धनवान है तो कल वह निर्धन बन सकता है। आज अनुकूल परिस्थिति है तो कल प्रतिकूलताओ का भी सामना करना पड सकता है। आज जो पदार्थ हमे सुख देते हैं वे कल दुःखदायी बन जाते हैं। आज जो अपने हैं वे कल पराये बन जाते है।

हाँ यदि सुख का कोई स्थायी अधार हो सकता है तो वह है सत्य, सनातन, सार्वभौम मानवीय चेतना। अपनी चेतना, अन्तरात्मा मे मन, बुद्धि चित्त को केन्द्रित करके तटस्थ निस्पृह अनासक्त भाव से ससार को देखते रहना आत्म स्थित हो जग मे अपने कार्य व्यापार करते रहना, आत्मा मे ही मस्त रहना, आत्मा मे ही सुखी रहना। आत्मा को देखना, आत्मा को ही सुनना, आत्मा मे ही रमण करना मनुष्य को सुख-दुःख की सीमाओ से मुक्त कर देता है।

किसी भी प्रकार के सुख की चाह के साथ दुःख का अभिन्न साथ है। उसे तिरोहित नही किया जा सकता। अस्तु सुख दुःख की सीमा से ही परे हो जाना इसके रहस्य को जान लेना है। और यह आत्म केन्द्रित होने पर ही

सम्भव है। आत्मस्थ व्यक्ति के लिए न कोई सुख होता न कोई दुःख। हमे सुख दुःख की सीमा से ऊपर उठने के प्रयास प्रारम्भ कर देना चाहिए।

जीवन में सामंजस्य पैदा कीजिए

संसार और इसके पदार्थों मे अनेकों विभिन्नताये, विचित्रताये निहित हैं। हर एक व्यक्ति का चेहरा दूसरे से नही मिलता। असंख्यों प्रकार के जीव और फिर उनमे भी परस्पर असमानताये। यहाँ तक कि एक पेड की पत्तियों शाखाओं मे भी परस्पर असमानता, भिन्नता होती है। ये सार्वभौमिक विचित्रताये भिन्नताये सर्वत्र ही हैं। मानव जीवन भी इनसे मुक्त नही है। मानव जीवन अनेकों अंगों मे बँटा हुआ है। अध्यात्म, धर्म, प्रकृति, लोक-मर्यादा, आत्मा, देह, विचार, भाव, लोकसंग्रह आदि अनेकों भागों मे मानव जीवन बँटा हुआ है। लेकिन इस सबके होते हुए भी समस्त संसार और इसके पदार्थ, सभी प्राणि मात्र एक स्थान पर परस्पर अभिन्न है। इनमे परस्पर ऐक्य है। भिन्नता, अनेकता, विचित्रता सब वाह्य है किन्तु आन्तरिक रूप से सभी एकता के सूत्र मे पिरोये हुए है। सभी विश्व-चेतना के अंग हैं। सभी मनुष्य विश्वव्यापी आत्म तत्व के अंग है। सभी एक आत्मा से ओत-प्रोत है। इस आन्तरिक एकता के स्थल पर सभी असमानताये, वैभिन्न्य, विचित्रताये तिरोहित हो जाती है। अनेकों विभागों मे बँटा हुआ मानव जीवन भी आन्तरिक क्षेत्र मे एक है, अभिन्न है :

[illegible] जीवन के मुख्यतया दो विभाग हुए। एक आन्तरिक जीवन, [illegible] विभिन्नताओं से रहित और मुक्त है। दूसरा वाह्य जीवन जो [illegible] विभिन्नताओं, अनेकताओं मे बँटा हुआ है। इसी तथ्य [illegible] ने लिखा है।

[illegible] बहुधा [illegible] योगात वर्णाननेकान्निहितार्थो—

[illegible] नहीं वह अपार शक्ति सम्पन्न है।

उसकी कोई जाति नहीं, किन्तु वे ही अनेक जातियों, समस्त प्रयोजनों का विधान करते है।"

हमारा अनेकों प्रवृत्तियों मे बँटा हुआ बाह्य जीवन और आन्तरिक जीवन भिन्न नहीं किन्तु एक दूसरे से जुडा हुआ है। दोनो का अपना-अपना महत्व है। दोनों मे से एक को भी तिरोहित नहीं किया जा सकता, यदि अनेकताओं मे बँटे हुए बाह्य जीवन को महत्व देकर आन्तरिक मूलसत्ता को भुला दिया जायगा तो मनुष्य को क्षण-क्षण मौत और पश्चाताप, दुःख और क्लेश का सामना करना पडेगा। क्योंकि समस्त पदार्थ और बाह्य जीवन की प्रवृत्तियाँ मरण-धर्मा क्षणभगुर है परिवर्तनशील और नष्ट होने वाले है। इसी तरह बाह्य जीवन की प्रवृत्तियो, विभिन्नताओं को भुला कर उन्हे तिरोहित करके एकमेव आन्तरिक सत्य को महत्व दिया जायगा तो जीवन एक तरह की शून्यता और व्यर्थता का अवशेष रह जायगा।

आवश्यकता इस बात की है कि आन्तरिक और बाह्य जीवन मे सामञ्जस्य, सन्तुलन स्थापित किया जाय। गीता मे इसे ही साम्ययोग कहा गया है। भगवान बुद्ध ने इसे ही मध्यम मार्ग कहकर जीवन साधना का सर्वोपरि मार्ग बताया है। उन्होने अपना प्रारम्भिक जीवन राज-महलो मे परिपूर्ण उपकरणो, सुख सुविधाओं के बीच बिताया, किन्तु इससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। फिर सब कुछ छोडकर वन की शरण ली और अनेक वर्षों तक घोर तप किया। अनेक कठोर साधनाये की और अन्त मे भगवान बुद्ध इसी निर्णय पर पहुँचे कि आन्तरिक और बाह्य जीवन मे, अध्यात्म और प्रकृति मे सामञ्जस्य, सन्तुलन—होने से ही जीवन मे परितोष की प्राप्ति हो सकती है। तब फिर मध्यम मार्ग का उन्होने ससार को उपदेश दिया, जिसमे जीवन के सभी अगो मे सामञ्जस्य करके लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

ससार और इसके पदार्थो उपकरणादि को सबकुछ मानकर चलना आसुरी मार्ग है, जिसका परिणाम सर्वथा विनाश, अशान्ति असन्तोष और पश्चाताप ही हो सकता है। रावण ने बडे प्रयत्नो से सोने की लका बसाई थी। स्वर्ग की सीढियाँ बना रहा था वह। विश्व विजय के नशे मे चूर हो

जीवन भर युद्ध किये। वासना और विषय लोलुपतावश परनारियों का हरण किया, अनेकों का सतीत्व नष्ट किया। आत्मा के गुण धर्म, स्वभाव की सम्पूर्ण उपेक्षा की रावण ने, किन्तु उसका परिणाम भी सर्वविदित है।

इसी तरह केवल अध्यात्म को, अन्तर्जगत को—महत्व देकर बाह्य—जीवन के उत्तरदायित्व, कर्तव्य, प्रकृति के नियमों को सर्वथा भुला दिया जायगा तो यह बडी भूल होगी। शास्त्रकारों ने इसे और भी बुरा बताया है। उपनिषद्‌कार ने कहा है —"जो केवल ब्रह्म को महत्व देकर जीवन के अन्य अङ्गो की उपेक्षा करते है वे और भी अधिक अन्धकार मे है।" जीवन मे परितोष तो क्या परिणाम मे शून्यता ही शेष रहेगी।

अध्यात्म और जगत, आत्मा और प्रकृति परस्पर भिन्न-भिन्न नहीं है। वरन् एक दूसरे के सयोग से ही परिपूर्ण बनते है। दोनों के सामञ्जस्य मे ही मनुष्य जीवन मे लक्ष्य की पूर्णता हासिल कर सकता है। अनेकों दानों के सयोग से ही माला बनती है। तो माला मे पिरोये रहने पर ही इनकी भी सार्थकता है।

कोई पदार्थ अपने मूल से और मूल सत्ता पदार्थ से जुदा हो जाने पर परस्पर विरोधी बन जाते है और एक दूसरे को नष्ट करने पर उतारू हो जाते है। बाह्य जीवन और आन्तरिक जीवन, प्रकृति और अध्यात्म दोनों मे से किसी एक को एकान्तिक भाव मे ग्रहण कर लेने पर इन युगलों मे परस्पर युद्ध छिड जाता है। ससार और इसके पदार्थ को महत्व देने पर ये आत्मा की उपेक्षा करने लगते है तो आत्मा को ही केवल महत्व देने पर वह [illegible] जगत की उपेक्षा होने लगती है। प्रकृतिवादी जगत को सर्वोपरि [illegible] ससार के पदार्थ उपकरणों को ही अधिक महत्व देते है, इन्हीं के [illegible] आत्मा के गुण-दया, धर्म-प्रमाद विराम विश्राम को कोई [illegible] रहता। [illegible] आत्मवादी प्रकृति मर्यादाओं, जगत के नियत कर्म [illegible] निश्चेष्ट हो जाते है। इस तरह की निश्चेष्टता [illegible] है। दोनों ही स्थितियों मे जीवन अपूर्ण

अत आन्तरिक और बाह्य जीवन मे सन्तुलन सामजस्य का होना आवश्यक है। जीवन और जगत की विभिन्नताओ मे भी आन्तरिक साम्य का पूर्ण दर्शन कर लेना साम्य-योग की पूर्णावस्था है और इसकी साधना का स्थल है हमारा चित्त। चित्त ही आन्तरिक और बाह्य जीवन को जोडने वाला पुल है। चित्त की अनुकूलता-साम्य से ही सामजस्य की उक्त आवश्यकता पूर्ण होती है। वस्तु पदार्थ, विचार, राजनीति, समाज, अर्थ, आत्मा और प्रकृति सभी मे सामजस्य पैदा करने का स्थल चित्त ही है। योग विज्ञान का क्षेत्र चित्त ही माना गया है। चित्त का परम साम्य ही पूर्ण योग भी है।

साम्य-योग की पूर्णावस्था अचानक प्राप्त नही हो जाती। इसके लिए छोटी-छोटी बातो मे सामञ्जस्य का अभ्यास करना चाहिए। एक-एक करके जीवन के सभी अङ्गो मे, सभी क्षेत्रो मे साम्य-योग की निर्दोष उच्च भूमिका तक पहुँचा जा सकता है।

व्यवहार मे, बात-चीत मे, चिन्तन मनन मे व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन मे सामञ्जस्य का जितना अभ्यास बढता जायगा उतना ही साम्य-योग की सफलता का क्षेत्र व्यापक होगा। अन्त और बाह्य जगत मे जो जितना सामजस्य कर लेता है वह उतना ही महान बन जाता है। हम दूसरो के साथ वही करेंजो स्वय अपने लिये चाहते हैं। हमारे क्रिया कलापो का आधार आन्तरिक सत्यही हो अर्थात् हम वही गति विधियाँ अपनाये जो सर्वजनहिताय, सर्वोपयोगी हो। हमारी प्रवृत्तियो का आधार सर्वव्यापी, आन्तरिक सत्य हो।

साम्य योग मे व्यक्तिगत स्वार्थो की प्रतिस्पर्धा को कोई स्थान नही है। सबके लाभ के साथ अपना लाभ, विकास उन्नति, प्रगति के सामूहिक प्रयत्न करना साम्य-योग का आदर्श है।

इस तरह साम्ययोग, सामजस्य की साधना के मूलाधार है (१) आत्मा और जगत को, आध्यात्म और प्रकृति को जीवन मे समान स्थान देना। (२) चित्त और चित्तवृत्तियो को सार्वभौम समग्र अखण्ड आन्तरिक सत्य के साथ

एकीभूत करना । (३) सबके साथ अपना जीवन, स्वयं जीना और दूसरों को जीने मे सहायता करना । (४) व्यक्तिगत लाभ की प्रतिस्पर्धा नहीं [illegible] सबके लाभ के साथ अपना लाभ प्राप्त करना । प्राप्त साधन उपकरणों से दूसरों की उन्नति विकास मे सहयोग करना । (५) सामूहिक विकास, उन्नति [illegible] मे—सामूहिक आनन्द मे विश्वास रखना । इनका अवलम्बन लेकर परम [illegible] मजिल तक पहुँचा जा सकता है और सच्चा जीवन लाभ प्राप्त किया जा सकता है ।

सन्तोषी—सर्वदा सुखी

कितने ही व्यक्ति अपनी वर्तमान परिस्थितियों मे बहुत खिन्न और परेशान रहते है । अपना वर्तमान उन्हे असन्तोषपूर्ण और भविष्य निराशामय दीखता है । वस्तुओ की कमी और परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण जितना कष्ट होता है उससे कही अधिक कष्ट उन्हे अपनी असन्तुलित मनोवृत्ति के कारण होता है । मानसिक सतुलन ठीक न रहने से वे परिस्थितियों को सुधारने, अभावो को मिटाने का मार्ग भी नहीं सोच पाते, फलत उनकी चिन्ता इस असन्तोषपूर्ण मन स्थिति के कारण सुधरने की अपेक्षा दिन-दिन बिगड़ती ही जाती है ।

एक व्यक्ति कम आमदनी के कारण, बहुत आर्थिक कष्ट अनुभव करता है और इसलिए अपने को अभावग्रस्त, भाग्यहीन तथा दीन-दुखी अनुभव करता है, पर दूसरा व्यक्ति उन्ही परिस्थितियो मे रहकर, उतनी ही आमदनी से अपना काम चलाता है और बडे आनन्द तथा सन्तोष के साथ दिन काटता है । कई बार तो उससे भी गई बीती आर्थिक परिस्थिति के लोग अपेक्षाकृत और भी अधिक प्रसन्न और सन्तुष्ट देखे जाते है । यदि धन की [illegible] ही सुख-दुख का कारण रही होती तो उसी आधार पर उसकी न्यूना-[illegible] होनी चाहिए थी । पर देखा इसके विपरीत जाता है । [illegible] लोग प्रचुर मात्रा मे धन होते हुए भी दुखी,

असंतुष्ट और चिन्तित देखे जाते हैं और अनेकों निर्धनों की झोपड़ियाँ स्वर्गीय सुख शान्ति को अपने अन्दर धारण किये होती है।

इसी प्रकार यश, कीर्ति सफलता, स्वास्थ्य, विद्या, बुद्धि, कला-कौशल चातुर्य, देश, जाति, आयु, रूप यौवन आदि विभूतियों के आधार पर भी दु:ख निर्भर नहीं है। इनमे से जिस वस्तु का भी अभाव होता है उसी को लोग अपने दु:ख का कारण मान लेते है और अपने को निर्दोष समझकर उन अभावों का ही रोना रोया करते हैं। वे सोचते है कि हमारा अमुक अभाव दूर हो जाय तो फिर प्रसन्नता और सन्तुष्टि उपलब्ध हो सकती है। प्रयत्न करने पर वह अभाव दूर भी हो जाते है फिर भी देखा गया है कि प्रसन्नता दूर ही हटती चली जाती है। उस अभावके पूर्ण होते ही दूसरा अभाव अखरने लगता है। कोई न कोई अभाव तो बना रहेगा। सारे अभावों का दूर हो जाना, समस्त कामनाओं का पूर्ण हो जाना सम्भव नहीं है। इस लिये उनके लिये सुख-शान्ति भी एक असम्भव तथ्य बनी रहती है। रोते, झींकते, खिन्नता और चिन्ताओं मे ग्रसित रहते हुए ही उन्हे जीवन के बहुमूल्य क्षण समाप्त करने होते है। आज अधिकांश व्यक्तियों की आन्तरिक स्थिति यही है। वे जीते तो है पर उसमे कोई आनन्द या संतोष अनुभव नहीं करते।

क्या इस स्थिति का बदला जाना सम्भव नहीं है? सुख का आस्वादन करते हुए प्रसन्नतापूर्ण जीवनयापन कर सकना अपने हाथ की बात नहीं है? इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन को सन्तोष और आनन्दपूर्ण परिस्थितियों मे व्यतीत कर सकना निश्चय ही मनुष्य के अपने हाथ की बात है। यह ठीक है कि अभीष्ट साधन सामग्री अधिक मात्रा मे होने से सुख की सम्भावना बढ जाती है। यह भी ठीक है कि अनुकूल परिस्थितियों मे मनुष्य अधिक सुविधा अनुभव करता है पर यह भी गलत नहीं है कि स्वल्प साधनों एवं सामान्य परिस्थितियों को भी यदि परिष्कृत दृष्टिकोण से देखा जाय तो उतने मे भी प्रसन्नता की उतनी

मात्रा उपलब्ध हो सकती है कि व्यक्ति अपने जीवन में [illegible] व्यग्रस्त न माने । जब अन्य असंख्यों व्यक्ति [illegible] रह सकते है तो हम उनसे कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त होते [illegible] रहे इसका कोई कारण नहीं है ।

प्रसन्नता और अप्रसन्नता की गुत्थी बाहरी [illegible] या उत्कृष्टता के आधार पर सुलझाई नहीं जा सकती । [illegible] चाहते है वह साधन जिन्हें उपलब्ध है वे ही क्या [illegible] आज हम चाहते है, उनके प्राप्त हो जाने पर वे भी स्वल्प [illegible] अधिक उत्कृष्टता की, अधिक मात्रा की आवश्यकता अनुभव होगी, फिर [illegible] अभाव खटकने लगेगा । इस कुचक्र का कहीं अन्त नहीं । [illegible] साधन सामग्री मिल कर भी एक व्यक्ति की तृष्णा को तृप्त नहीं कर सकती । सुरसा राक्षसी की तरह उसका मुँह फटता ही जाता है । इसमें से बच निकलने का एक ही उपाय है, अपने को छोटा बनाना । हनुमान जी ने इसी युक्ति से अपना पिण्ड छुडाया था । सुरसा वस्तुतः तृष्णा ही है हमारा आकार जितना ही बढे उसका मुँह और भी अधिक फटता जाता है । राजा और रंक श्रीमन्त और श्रमिक सभी उसकी डाढो के नीचे कुचले जाते और अपने-अपने ढंग से दुर्भाग्य का रोना रोते हुए चीखते चिल्लाते रहते है ।

हम सिर्फ अभावों और कठिनाइयों के बारे मे सोचते रहे है और किन्तु जो कुछ उपलब्ध है उसकी महत्ता और प्रचुरता पर ध्यान नहीं देते । यदि हम अपने से नीचे वालो के साथ अपनी तुलना करने लगे तो प्रतीत होगा कि जितने ही व्यक्ति हमें अपनी तुलना मे उतना ही साधन सम्पन्न समझते होंगे जितना हम अपनी तुलना से दूसरों को समझते है । यदि हम उन बेचारो की परिस्थिति मे होते और उस समय कोई देवता आकर यह परिस्थिति प्रदान [illegible] उपलब्ध है तो निश्चय ही यह परिवर्तन एक वरदान ही [illegible] यदि उन्हे हमारी तरह देख सकते [illegible] के आनन्द से फूले न समायेंगे । इसी प्रकार जितने

ही लँगड़े, लूले, बहरे, अपाहिज, पागल रोगग्रस्त, जराजीर्ण मनुष्य ऐसे है जो और कुछ न सही केवल शारीरिक स्थिति ही हमारे जैसी मिल जाय तो उसे एक दैवी वरदान ही मानेगे। पर हमे अपनी इस सम्पन्नता का कभी अनुभव भी नही होता। जो कुछ हमे प्राप्त है उसकी उत्कृष्टता पर यदि हम विचार करे तो प्रतीत होगा कि ईश्वर नेजो कुछ दिया है वह भी इतना है कि उस पर सतोष और गर्व किया जा सकता है। जो प्राप्त है उससे सन्तुष्ट रहना अरौ अधिक के लिए प्रयत्न करना यही प्रगति का निर्दोष क्रम है। विवेकवान इसी रास्ते उन्नति की मजिल पर बढते है।

इस ससार मे मनोवाञ्छित परिस्थितियाँ किसी को भी प्राप्त नही। हर एक को कोई न कोई अभाव रहना ही है। यदि इसी कारण लोग असन्तुष्ट रहने लगे तो फिर सारी दुनियाँ मे एक भी व्यक्ति सुखी न मिलेगा। पर बात ऐसी नही है, अनेको निर्धन तथा कठिनाइयो मे ग्रस्त मनुष्य भी ऐसे मौजूद है जो परिस्थितियो मे लडते हुए उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील तो है पर वर्तमान मे जो कुछ सामने है उससे खिन्न नही होते। हँसते-खेलते उसे ईश्वर की अनुकम्पा मानकर अपना मन प्रसन्न रखते है और सन्तोष की साँस लेते हुए जीवन के दिन पार करते है।

कई लोग सोचते है कि सन्तोष कर लेने से प्रगति शिथिल हो जायगी, उन्नति के प्रयत्न ढीले हो जायेगे, जो कुछ है सब ठीक है यह मान लेने की आदत पड जायगी और फिर विकास के लिये उत्साह न रहेगा। यह आशङ्का उन अस्थिर मति वाले क्षणिक बुद्धि लोगो के लिये हो की जाती है जो आवेश मे या नशा पीकर ही कुछ कर सकते है। विवेकशील अपने जीवन को एक क्रमबद्ध व्यवस्था के रूप मे विनिर्मित करते है। वे जानते है कि असन्तुलित खिन्न और उद्विग्न मन होना एक प्रकार की रुग्ण अवस्था है जिसमे कुछ कर सकना तो दूर, ठीक तरह सोच सकना भी कठिन होता है। झुँझलाहट, खीज, परेशानी और उद्वेग की स्थिति मे मस्तिष्क उलटे ही विचार करता है, उतावला होता है, विपत्ति कोबढ़ा चढा कर सोचता है, दूसरो पर दोषारोपण

करता है, अपने भाग्य को कोसता है, भविष्य में भयङ्कर [illegible] है, और सब छोड कर कहीं भाग जाने या आत्महत्या [illegible] बातें सोचता है। कभी-कभी वह अपने भयङ्कर कल्पना [illegible] दूसरे पर मढ कर उस पर ऐसे आक्रमण कर बैठता है जिससे [illegible] पश्चाताप ही हाथ रहे।

सन्तोष बढ कर इस उपर्युक्त परिस्थितियों में ही जा [illegible] शारीरिक एवम् मानसिक स्वास्थ्य को बुरी तरह नष्ट कर देता है। यह एक मानसिक रोग है, आन्तरिक उत्पात है, इससे बचने में ही कल्याण है। जो लोग सोचते है कि असन्तोष से प्रगति की आकांक्षा जागृत होती है वे भूल करते है। प्रगति तो स्वस्थ आत्मा का स्वाभाविक चिन्ह है। शान्त और सन्तुलित मस्तिष्क सदा प्रगति की बात सोचेगा और उसके लिये वह गतिविधि भी अपनावेगा जो सफलता की मजिल पार करने में समर्थ होती है।

हमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। सन्तोष में ही शान्ति है। आज जो उपलब्ध है उसके लिए ईश्वर को अनेक धन्यवाद देना और उसके लिए पूर्ण रूप से प्रसन्न रहना ही हर विवेकशील के लिए उचित है। जिन्हें हमसे कम मिला है, उनकी तुलना में अधूरे साधन एवं घटिया वस्तुओं के होते हुए भी हम भाग्यशाली हैं। इस अपने सौभाग्य पर हम क्यों प्रसन्न नहीं होना चाहिए? क्यो सन्तोष नही करना चाहिए? यदि सुखी रहने की इच्छा है तो सन्तोष को अपने स्वभाव में सम्मिलित करना होगा। और भी अधिक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करने लिये हम प्रयत्न करे, यह उचित है, पर इसके लिये खिन्न या असन्तुष्ट होने की आवश्यकता नहीं है, यह [illegible] सन्तुष्ट और प्रसन्न मन से ही सुविधा पूर्वक हो सकता है।

अकारण दुखी न रहा कीजिए

[illegible] अनुभव किये जाने वाले सुख-दुख मनुष्य की मानसिक स्थिति [illegible] है हालांकि अधिकांश लोग बाह्य परिस्थितियों को अपने [illegible] उन्हें कोसा करते है या सराहना करते रहते है

लेकिन इनमे तनिक भी सन्देह नही कि सुख-दुःख मुख्यतया मनुष्य की अपनी मानसिक स्थिति का ही परिणाम है। एक-सी परिस्थितियो मे एक व्यक्ति सुखी रहता है तो दूसरा दुःख अनुभव करता है। शास्त्रकार ने कहा है।

तमेव विषय प्राप्य-सुखदुःखे ततो नृणाम् ।
मनोऽवस्थितिभेदेन जायेते इति दृश्यते ॥

"मन ही सुख-दुःख का कारण है इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि एक ही विषय को पाकर मनके अवस्था-भेद से लोग सुख-दुःख अनुभव करते रहते है।"

अस्वस्थ मनोवृत्ति के अन्तर्गत अपने अज्ञान, एव अविवेक, नासमझी मे सुख के क्षणो का भी हम लाभ नही उठा पाते वरन् खुशी मे भी दुःख का मातम मनाते रहते है। कई बार तो असन्तुलित मन तनिक-सी परेशानी न होते हुए भी काल्पनिक परेशानियो का ऐसा ताना-बाना बुन लेता है जिसमे जीवन की सम्भावनायें अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इतना ही नही सुख के क्षणो को भी हम गँवा बैठते है।

बाह्य परिस्थितियो को ही यदि आधार बनाया जाय तो भी ऐसा कभी नही होता कि किसी व्यक्ति के जीवन मे दुःख ही दुःख आये और किसी को सुख ही सुख मिले। जगत मे सन्तुलन कायम रखना प्रकृति की विशेषता है। वह किसी को सुख साधनो से युक्त करती है तो उतने ही अनुपात मे दुःख का कारण भी जोड देती है। प्रकृति के नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुख और दुःख के दो पहियो पर चलता है। जिसके जीवन मे दुःख की घडियाँ आती है तो उसके साथ कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी पैदा हो जाती हैं, जिन पर मनुष्य सन्तोष, शान्ति, प्रसन्नता की साँस ले सके।

अति-सुख या अति-दुःख मनुष्य का अपनी ही अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिणाम है। अपने दुःख या अपने सुख मे हम एकाकी भाव से इतने डूब जाते हैं कि दूसरे पक्ष का तनिक भी विचार नही कर पाते।

कई बार तो मनुष्य को अपने सुख सफलता, प्रसन्नता के क्षणो मे भी

भय होने लगता है, अपनी असन्तुलित मनोवृत्ति के कारण। किसी भी परिस्थिति से प्राप्त अति सुख के समय भी हमारे मन मे कई तरह के भय उठ खड़ी होती है और सुख के क्षणो को हम दुःख मे परिवर्तित कर देते है। अपनी इच्छानुसार सुस्वादु भोजन पाकर भी कई लोग अपनी स्वाद लोलुपता अथवा पेटू कहलाने की आशकाओ से ग्रस्त होकर परेशानी मे पड़ जाते है। कई व्यक्ति परम्परा और सकोच की भावनाओ से ग्रस्त होकर अपने सुखी दाम्पत्य जीवन का भी लाभ नही उठा पाते। कई साधन सम्पन्न व्यक्ति [illegible] की शकाओ के कारण सुविधायुक्त जीवन भी नही बिता पाते। गलत नीति और दुराचरण की विकृत कल्पनाओ से प्रेरित होकर मनुष्य दूसरे के सुख, वर्चस्व से भी दुःखी होने लगता है। दूसरे की सफलता, उन्नति से परेशान होता है, नाक भौं सिकोड़ता है। यह सब मनुष्य की अस्वस्थ और असन्तुलित मनोवृत्ति का कारण है। दुःख सुख की व्याख्या इसी मनोवृत्ति का परिणाम है।

दुःख अपने आप मे कुछ भी नही है न इसका कारण कोई परिस्थिति विशेष ही है। हमारी मनोभावनायें, मानसिक स्थिति ही जीवन मे अनुभव होने वाले छोटे से लेकर बड़े दुःख का कारण है। हमारे अपने अन्दर ही, अपने व्यक्तित्व के पर्दे मे ही दुःख की भयावनी तस्वीर छिपी रहती है।

दुःख का मूल आधार मनुष्य के अपने नकारात्मक विचार होते है। रचनात्मक, विधेयक विचार मनुष्य मे बड़े परिश्रम और लम्बे अभ्यास के बाद परिपक्व होते है। किन्तु नकारात्मक मनोभूमि मनुष्य की सहज स्वाभाविक प्रकृति का परिणाम है, जिसके कारण मनुष्य मे चिन्ता, परेशानी, क्रोध, भय, निराशा, हीनता, अवसाद के भावो का विस्तार होता है। और ये ही दूषित [illegible] मनुष्य के दुःख का आधार बनते है। बाह्य परिस्थितियो के अनुकूल और [illegible] से सम्पन्न होकर [illegible] मनोभूमि का व्यक्ति दुःख ही अनुभव करता है। इतना ही नही वह सुख आनन्द के अवसरो का भी लाभ नही उठा पाता। इस तरह [illegible] से [illegible] दुःखो से छुटकारा नही मिल पाता।

जीवन पथ पर आगे बढ़ने के लिए हमे स्वस्थ सबल, रचनात्मक मनो-

भूमि की अत्यन्त आवश्यकता है । इसके बिना हम एक कदम भी आगे नहीं बढ सकेंगे प्रत्युत हमारा असन्तुलित मन ही हमारे विनाश का कारण बन जायगा। इसके लिए आत्म निरीक्षण द्वारा अपने मनोविकारों को समझा जाय। अपनी मनोभूमि का पूरा-पूरा निराकरण किया जाय। जो भी नकारात्मक विचार हो उनसे पूर्णतया मुक्त होने का प्रयत्न किया जाय। स्मरण रहे आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया इतनी गम्भीर भी न हो जिससे जीवन के अन्य अङ्गों की उपेक्षा होने लगे। केवल अपने बारे मे ही सोचते रहना, अपने व्यक्तित्व मे घुसकर ही ताना-बाना बुनते रहना भी आगे चलकर मानसिक दोष बन जाते है। आवश्यकता इस बात की है कि अपनी मनोविकृति के बारे मे गम्भीरता से सोचा जाय और फिर उसे सुधारने मे तत्परतापूर्वक लग जाया जाय।

नकारात्मक विचारो को हटाकर रचनात्मक, विधेयक दृष्टिकोण अपनाने पर दुःखदायी परिस्थितियाँ भी मनुष्य के लिए सुखकर परिणाम पैदा कर देती है। वस्तुतः स्वस्थ मनोवृत्ति का व्यक्ति सुख और आनन्द को ही जीवन का सर्वस्व नही मानता। एक सीमा तक इन्हे उपयोगी भी माना जा सकता है।

स्वस्थ मनोवृत्ति का मनुष्य दूसरो के सुख, आनन्द से प्रसन्नता अनुभव करता है। वह दूसरो को सुखी देखकर अधिक सन्तोष अनुभव करता है। जीवन के प्रति सरस और सजीव दृष्टिकोण अपनाने के कारण अपनी कठिनाइयो से भी बहुत कुछ सीखता है और उन्हे एक उग्र अध्यापक मात्र मानकर स्वागत भी करता है।

यदि हमारा मानसिक संस्थान रचनात्मक, स्वस्थ एव सबल हो तो ऐसा कोई क्षण नही होता जिसमे हमे दुःखी रहने का अवसर मिले। सारा जगत एक चमत्कार और प्रसन्नता का स्रोत है हमारे लिए, विशाल नीला आकाश, उडते फुदकते कलरव करते पक्षी, धरती पर फैली हरियाली, छोटे-छोटे बच्चो के खेल, सुन्दर पुष्प, मित्र सगे सम्बन्धियो का प्रेम आदि अनेको सुख स्रोत धरती पर मौजूद है। इतना ही नही दुःख और कठिनाइयो मे सुख

की खोज की जा सकती है यदि हमारा दृष्टिकोण ... सारा जीवन ही सरस, सजीव और उत्साह ... कितना सुख या आनन्द प्राप्त कर सकते हैं यह हमारे ... निर्भर करता है ।

स्वस्थ मानसिक स्थिति में सुख और आनन्द की ... व्यक्तित्व तक सीमित नहीं रहती । वह अकेला सुख अनुभव नहीं ... । दूसरों को सुखी, प्रसन्न देखकर भी उसे आनन्द मिलता है । ... लोग अपने सुख आनन्द तक ही सीमित न रहकर दूसरों को भी सुखी ... का प्रयत्न करते हुए सन्तोष अनुभव करते रहते हैं ।

जो जीवन से प्यार करता है, उसे ही जीवन का रस, और आनन्द का वरदान मिलता है । उसे ही स्वास्थ्य, बल, लोकप्रियता मिलती है, जो जीवन से दोस्ती का हक अदा करता है, सुख और आनन्द उनका स्वागत करते हैं, उनसे लिपटे रहते हैं जिनकी मनोभूमि रचनात्मक, विधेयक रहती है । निराशा, कुढ़न, चिन्ता, क्लेश, ईर्ष्या, अवसाद भावावेग जहाँ घर किए बैठे रहते हैं वहाँ से सुख, शान्ति, आनन्द सदैव दूर ही रहते हैं ।

सुख दुःख हमारे अपने ही पैदा किए होते हैं । हमारी अपनी मनोभूमि का परिणाम है । हम अपनी मनोभूमि परिष्कृत करें, विचारों को उत्कृष्ट और रचनात्मक बनायें भावनायें शुद्ध करें, इसी शर्त पर जीवन हमें सुख शान्ति, प्रसन्नता आनन्द प्रदान करेगा । अन्यथा वह असन्तुष्ट और रूठा हुआ ही बैठा रहेगा और अपने लिए आनन्द के द्वार सदैव बन्द रखे रहेगा ।

दुःखी रहना शैतान का काम

... का कथन है—"दुःखी रहना शैतान का काम है ।" इस ... का तात्पर्य इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि दुःखी रहना मानवीय प्रवृत्ति नहीं है । यह एक निकृष्ट प्रवृत्ति है जो मनुष्य को शोभा नहीं देती । तथापि, अधिकतर लोग दुःखी ही दिखाई पड़ते हैं ।

... प्रश्न उठता है कि जब दुःखी रहना मानवीय प्रवृत्ति नहीं है,

तब आखिर मनुष्य दु खी क्यो रहते है ? क्या कोई ऐसी अदृश्य शक्ति है जो मनुष्य को उसकी प्रवृत्ति के विरुद्ध दु खी रहने को विवश करती है ?

इस विषय मे एक नही अनेक ऐसे प्रश्न और शकाये उठ सकती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि कोई वाह्य कारण अथवा अदृश्य शक्ति मनुष्य को दु खी नही रखती है, मनुष्य अपने स्वय के अज्ञान और दुर्बलता के कारण, अकारण ही दु खी रहता है। वैसे न सुख का और न दु ख का, अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है। ये मनुष्य की अपनी निर्बल अनुभूतियाँ ही है जो सुख-दु ख के रूप मे आभासित होती है।

अदृश्य शक्ति को इस प्रसग के बीच से निकाल ही दिया जाये, यही ठीक होगा। क्योकि अदृश्य शक्ति तटस्थ और निरपेक्ष शक्ति होती है। वह चेतना प्रदान करने के सिवाय मनुष्य के जीवन मे अधिक हस्तक्षेप नही करती। उसको इस प्रसङ्ग मे खीच लाने पर मानवीय धरातल पर सुख-दु ख और उसके कारणो का विवेचन कर सकना कठिन हो जायेगा।

दु ख का एक स्थूल-सा कारण है वाछा का विरोध। जो हम चाहते है उसको न पा सकने पर जो क्षोभ अथवा निराशा होती है वही दु ख रूपमे अनुभव होती है। मनुष्य को समझना चाहिए कि सभी वाछाये कभी पूरी नही वाछाये वे ही पूरी होती है जो उचित और उपयुक्त होती है। किन्तु अज्ञानी होती। व्यक्ति इसका विचार न कर अपनी वाछाये बढाते चले जाते हैं कि वे सब विना विरोध के पूरी होती रहे। ऐसे आदमी यह नही सोच पाते कि इस ससार मे और दूसरे लोग भी है। उनकी भी अपनी कुछ वाछाये होती है, जिनकी पूर्ति का अधिकार उन्हे भी है। यदि किसी एक की ही सारी वाछाये पूरी होती रहे तो क्या दूसरे लोग अपनी वाँछा पूर्ति के अधिकार से वञ्चित रह जायेगे ? किसी एक की सारी वाछाये पूरी होती रहे यह सम्भव नही।

किन्तु स्वार्थी मनुष्य जिनको केवल अपनेपन का ही ध्यान रहता है इस न्याय पर ध्यान नही दे पाते। उन्हे अपना स्वार्थ, अपना हित और अपना लाभ ही दीखता रहता है। दूसरो के हित अहित, हानि-लाभ से जैसे

कोई मतलब ही नही रखते । ऐसे सङ्कीर्ण [illegible] भाविक ही है । वे स्वार्थ पूर्ण वाछाये करते ही [illegible] होती रहेगी, उनके मन मे क्षोभ और निराशा [illegible] स्वरूप वे दुख अनुभव ही करते रहेगे । [illegible] और न व्यवधान ।

ऐसे सङ्कीर्ण, स्वार्थी, लिप्सु और हीन-भावना वाले [illegible] से मिल कर, फिर चाहे वह अमीर हो या गरीब, सम्पन्न हो [illegible] पढा हो अथवा अनपढ हो, स्त्री हो या पुरुष मालूम [illegible] क्या वह अपने मे जरा भी सुखी है ? निश्चय ही वह दुखी [illegible] विश्वासपूर्वक पूछने पर वह बतलायेगा कि वह बहुत दुखी [illegible] क्लेशो मे परिपूर्ण विदित होता है । निश्चय ही ऐसे लोगो के दुख [illegible] उनकी हीन और स्वार्थपूर्ण भावनाये ही होती है । दुख दुर्भावनाओ [illegible] होता है । दुर्भावना रखने वाला शैतान ही तो माना गया है, [illegible] फासिस ने कहा है—"दुखी रहना शैतान का काम है ।"

दुख के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी है । उसमे से एक सवेदनशीलता भी है । यो तो सामान्य रूप मे सम्वेदनशीलता एक गुण है । किन्तु जब यह औचित्य की सीमा से परे निकल जाती है तब दुर्गुण बन जाती है जिसका परिणाम दुख ही होता है । अति सवेदनशील व्यक्ति का हृदय भावुकता के कारण बडा निर्बल हो जाता है । वह यथार्थ दुख तो दूर काल्पनिक दुखो से भी व्यग्र एवम् व्याकुल होता रहता है इस क्षण-क्षण बदलते रहने वाले ससार का एक साधारण-सा [illegible] ही उन्हे व्याकुल कर देने के लिये बहुत होता है । क्षण-क्षण परिवर्तित और बनते बिगडते वाले पदार्थ, परिस्थितियो और सयोगो के प्रभाव से सुर-[illegible] रहना उनके बस की बात नही होती । उन्हे ससार की एक नगण्य सी [illegible] कर रख देती है और वे क्षुब्ध होकर दुख अनुभव [illegible] लगते है ।

[illegible] प्रकार से सवेदनशील व्यक्ति भावुकता के कारण अपनी ही एक [illegible] ससार और उसमे ही विचरण करते रहते है । विशेषता यह

होती है कि उनकी वह काल्पनिक दुनियाँ इस यथार्थ ससार से सर्वथा भिन्न होती है। होना भी चाहिए यदि उनका ससार इस ससार से भिन्न न हो तो उसके बनाने का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? इस भिन्नता के कारण इस यथार्थ ससार और उनकी काल्पनिक दुनियाँ मे टकराव पैदा होता रहता है। कमजोर एव निराधार होने से उसकी दुनियाँ टूटती है, जिसके शोक मे वे दुखी और व्यग्र होते रहते है। यदि मनुष्य भावुकता का परित्याग कर, यथार्थ के कठोर धरातल पर ही रहे उसी के अनुसार व्यवहार करे, हर तरह की आने वाली परिस्थिति को ससार का स्वाभाविक क्रम समझकर खुशी-खुशी स्वागत करने को तत्पर रहे तो वह बहुत कुछ दुख के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकता है।

अज्ञान को तो सारे दुखो का मूल ही माना गया है। मनुष्य को अधिकाश दुख तो उसके अज्ञान के कारण ही होते है। सुख-दुखो के विषय मे यदि मनुष्य का अज्ञान दूर हो जाये तो वह एक बडी सीमा तक दुखो से छुटकारा पा सकता है। सुख-दुख का अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। उनका अनुभव भ्रम अथवा अज्ञान के कारण ही होता है। यदि मनुष्य एक बार यह समझ सके और विश्वास कर सके कि सुख-दुखो का सम्बन्ध किन्ही बाह्य परिस्थितियो से नही है, यह मनुष्य की अपनी अनुभूति विशेष के ही परिणाम होते है तो शायद वह उनसे उतना प्रभावित न हो जितना कि होता रहता है। मनुष्य की मान्यता, कल्पना, अनुभूति विशेष और उसकी अपनी मानसिक अवस्था से सुख-दुख का जन्म होता है। यदि इन अवस्थाओ मे अनुकूल परिवर्तन लाया जा सके तो दुख से छूटने की सम्भावना कोई काल्पनिक बात नही है। यदि मनुष्य के दुखो का सम्बध परिस्थितियो से होता तो उनका प्रभाव सब पर एक समान ही पडना चाहिए। किंतु ऐसा होता नही है। जिन एक तरह की परिस्थितियो मे कोई एक दुख और शोक का अनुभव करता है, उन्ही परिस्थितियो मे दूसरा हर्षित और प्रसन्न होता है।

दुःख का आधार अपनी अनुभूति विशेष को न मान कर किसी [illegible] परिस्थितियों को मानना अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर किये बिना यदि कोई चाहे कि दुःख से छुटकारा हो जाये तो यह सम्भव न होगा। अनुकूल परिस्थितियों में हर्षातिरेक के वशीभूत हो जाना और प्रतिकूलताओं में रोने-झीकने का स्वभाव स्वयं एक अज्ञान है। उससे मनुष्य का मस्तिष्क असन्तुलित सा हो जाता है। वह यथार्थ से हटकर अधिकतर भ्रम में ही भटकता और ठोकरें खाता रहता है। उसके ठीक समझने और मूल्यांकन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। वह किसी बात में ठीक-ठीक यह नहीं समझ पाता कि जिन बातों में मैं दुःख मना रहा हूँ वह दुःख के असन्तुलित स्थिति में [illegible] गलत-सलत सोचता और वैसा ही व्यवहार करता है, जिससे दुःख का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

दुःख के कारणों में आसक्ति भी एक बड़ा कारण है। यहाँ पर आसक्ति का एक मोटा-सा अर्थ यह लिया जा सकता है—अत्यधिक अपनेपन का लगाव। जिन बातों में अत्यधिक लगाव होता है, उनको सर्वथा अपने अनुकूल रखने की कामना रहती है। किंतु किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति को हर स्थिति में सर्वथा अपने अनुकूल रख सकना सम्भव नहीं होता। वे अपनी गति से कभी किसी समय भी विपरीत दिशा में घूम सकते हैं। ऐसी दशा में उनके प्रति अत्यधिक ममत्व के कारण दुःख की अनुभूति से बचा नहीं जा सकता। यदि वस्तुओं और व्यक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया जा सके और उन्हें सर्वथा अपने अनुकूल देखने की इच्छा का त्याग किया जा [illegible] तो कोई कारण नहीं कि व्यर्थ में अनुभव होने वाले बहुत से दुःखों [illegible] पड़े।

[illegible] नाटक के पट परिवर्तन से जल्दी प्रभावित नहीं [illegible] अवलम्ब में बचे रहते हैं। कामनाओं की पूर्ति के समय [illegible] मत हो जाने का यदि अपना [illegible] दुःखों के बहुत से कारण आप से आप ही नष्ट हो

जाये। यदि ससार मे उदार गम्भीर और यथार्थ जीवन लेकर चला जा सके और आसक्ति के साथ अत्यधिक स वेदना को स क्षेप किया जा सके तो हमारी मनोभूमि निश्चय ही इतनी दृढ और परिपक्व हो सकती है कि उस पर सुख दु ख की कोई प्रतिक्रिया ह नी हो।

"सर्वे भवन्तु सुखिन., सर्वेसन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखभाग्भवेत्"—का ऋषि सिद्धान्त लेकर चलने वालो को स सार मे किसी प्रकार का दुख शेष नही रह जाता। इस सार्वभौमिक भाव से मनुष्य की स्वार्थपूर्ण सकीर्णता विस्तृत एवं व्यापक हो जाती है। वह अपने को पीछे रख कर दूसरो के लिए सोचता है, दूसरो के लाभ के लिए काम करता है और दूसरो के कल्याण के लिए जीना है। हृदय मे जब अपनत्व का स्थान सर्वस्व ले लेता है तो मनुष्य की अनुभूतियाँ भी उसकी नही रह जाती। वह दूसरे के दु ख से दु खी और दूसरे के सुख से सुखी होने लगता है। ऐसी दशा मे पर दुख से कातर मनुष्य को उस कष्ट उस क्लेश मे भी एक आध्यात्मिक सुख सन्तोष मिला करता है। अपने को समष्टि मे मिला देने पर तो दुख का सर्वथा अभाव ही हो जाता है।

तथापि बहुत से लोगो को यह प्रक्रिया कठिन तथा दुरूह दिखलाई दे सकती है उनकी मनोभूमि इस योग्य न होना कोई बहुत बडी बात ही है। ऐसा हो सकता है। अस्तु मध्यम मनोभूमि वाले व्यक्तियो को मध्यम मार्ग, का अवलम्बन ले ही लेना चाहिए। वह मध्यम मार्ग इस प्रकार का हो सकता है। अपनी स्थिति, शक्ति और अधिकार सीमा मे रहकर वाँछाये की जाये उन्हे पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाये। फिर भी यदि उनमे से कोई अपूर्ण रह जाये तो इसे स सार की एक साधारण प्रक्रिया मानकर सन्तोष किया जाये। अनुकूल एव प्रतिकूल दोनो अवस्थाओ मे तटस्थ रहकर अपना कर्त्तव्य किया जाये और किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति आसक्ति रखकर कोई अपेक्षा न की जाये दु.ख से बचने का यह मध्यम उपाय ऐसा नही है जो साधारण मनोभूमि वालो के लिए कठिन हो

सामान्य मध्यम अथवा उच्च जो भी उपाय किया जा सके दुःख से बचने के लिये करना ही चाहिए—क्योकि दुःखी रहना शैतान का काम है, मनुष्य का नही। हमारे लिए मानवोचित रीति-नीति अपना कर ही चलना बुद्धिमानी भी है और कल्याणकारी भी।

दुःख से छुटकारा कैसे मिले ?

देखने मे आता है कि सुख-स्वास्थ्य, दूध पूत, धन-दौलत, यश-मान सभी कुछ होते हुए भी अधिकांश व्यक्ति दुःखी रहते है। कोई विरले व्यक्ति होगे, जो परिवार के कीचड मे फँस कर भी कमल की तरह उससे अलिप्त और अप्रभावित रहते हो। तब क्या नानकजी की यह वाणी सत्य है कि 'नानक दुखिया सब ससार।' किसी ज्ञानी ने सुख की परिभाषा इन शब्दो मे की है—इस सृष्टि मे दुःख ही व्यापक है। दुःख के अभाव को ही सुख कहना उचित होगा।"

तब तो यह मानकर ही चलना अधिक कल्याणकर होगा कि सुख तो दो दिन का साथी है असल मे दुःख ही चिरसगी है। इस चिरसगी के साथ जो व्यक्ति समझौता करना जानता है, उसे दुःख गहराई तक प्रभावित नही कर पाता। मनुष्य जीवन की सार्थकता इस सांसारिक रगडे झगडे से ऊपर उठने मे है, नही तो ये आप पर हावी हो जायेगे। आपको पराजित कर आपकी आत्मिक शक्ति को मरोडकर रख देगे।

दुःख के मूल कारण माने जाते है अभाव, प्रियजन की मृत्यु, बीमारी, कुरूपता, शारीरिक बल की कमी, प्रेम मे असफलता, ईर्ष्या, घृणा और डर की बाते।

उपर्युक्त परिस्थितियो मे प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति विभिन्न प्रकार से हो सकती है। किसी व्यक्ति के लिए अभाव का मतलब है जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के साधनो की कमी। सन्तोषी मनुष्य भगवान से इतना ही मांगकर सन्तुष्ट है कि—

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूँ, अतिथि ना भूखा जाय ॥

जव कि ठीक इसके विपरीत ऐसे लोग भी है कि सव कुछ पाकर भी तृष्णा के शिकार वने रहते हैं। उनकी 'हाय और, 'हाय और, की पुकार कभी वन्द ही नही होती। दुर्वल हृदय व्यक्ति को यदि जरा-सा जुकाम भी हुआ या ६६ डिग्री भी वुखार हुआ तो वह दिन मे दस वार अपनी नव्ज देखेगा और इसी चिन्ता मे परेशा रहेगा कि शायद अव उसे निमोनिया होने जा रहा है, जव कि दूमरो की चिन्ता मे रत परोपकारी व्यक्ति अपना दुःख दर्द भूलकर वीमारी और अभावो मे भी सेवा कार्य करते देखे गए है। जीवन मे असफलता दृढ निश्चयी को आगे वढने की प्रेरणा देगी, जव कि एक निराशावादी को जीवन मे मामूली-सी असफलता भी आत्मघात करने की हद तक पागल वना सकती है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रतिकूल परिस्थितियो को हम वास्तव में दु ख का कारण नही कह सकते। असल मे यह प्रत्येक मनुष्य की अपनी अपनी समझ, परख और जीवन के प्रति दृष्टिकोण है, जो कि अभाव, असफलता और प्रतिकूल परिस्थितियो को दु ख की सज्ञा देता है। अव देखना यह है कि क्या वन-दौलत, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सन्तान, भोगविलास आदि मनुष्य के जीवन को सुख, शान्ति और सन्तोप से भर देने मे समर्थ है? क्या इनके द्वारा दु खोसे छुटकारा मिल सकता है?

कर्मशील व्यक्ति के लिए तो धन हाथ का मैल है। उस को यदि कार्य मे सफलता मिलती है तो यही उसका पुरस्कार है। हाँ,मेरा वैक-वैलेस दिन पर दिन वढ़ रहा है और मेरा परिश्रम धन के रूप मे साकार हो रहा है यह जान कर चाहे उसे आत्म-सन्तुष्टि हो, पर क्या वह स्वअर्जित अपार धन राशि को भोगने मे खुद समर्थ है? पुरुप पुरातन की वधू लक्ष्मी चचला है। अगर धन वटता नही और उसे होनहार पुरुषार्थियो का सरक्षण प्राप्त नही होता तो वह जरूर नष्ट हो जाता है। धन मनुष्य को निर्दय, अधिकार से अन्धा और दम्भी वना देता है। अमीरो और धनियो की अपनी मुसीवतें है हरदम

उन्हे अपने धन की रक्षा की चिन्ता बनी रहती है। आगे उनको संभालने वाला सुयोग्य वारिस होना चाहिए इसी चिन्ता मे वे घुलते रहते है। निन्नानवे के फेर मे पड़कर वे धन का सदुपयोग ही भूल जाते है। धन का बढ़ता हुआ ढेर ही उनके जीवन की चिन्ताओं का मूल कारण बन जाता है। धन साधन न होकर जीवन का ध्येय बनकर रह जाता है।

अब लीजिये स्वास्थ्य को। इसमे कोई सन्देह नही कि 'तन्दुरुस्ती हजार न्यामत है' और सुन्दर तथा सुडौल काया एक वरदान है, पर यह भी तो चिर-स्थायी नही है। कई बूढ़े पगु भी अपने मे मस्त और सुखी पाये गये है जब कि बड़े-बड़े पहलवान, नौजवान और रूपगर्विता नारियाँ भी किसी रोग या दुर्घटना का शिकार होकर अपना महत्व खो बैठते है। सभी स्वस्थ पुरुष सुखी तो नही होते और न सभी आकर्षक सुन्दरियाँ पति की प्यारी ही होती है। जो वस्तु अपने को प्राप्य न हो उस ओर मनुष्य लपकता है। सुन्दरी युवती का पति भी दूसरी स्त्रियो के प्रति आकृष्ट होता देखा गया है।

युवावस्था मे मित्रता, घनिष्ठता, विश्वास और भावुकता मिलकर प्रेम का रूप लेते है। मैं किसी का हो जाऊँ किसी को अपना बना लूँ, यह लालसा प्रेमी को दीवाना बना देती है। प्रेमिका के बिना उसे दुनिया सूनी लगती है। उसको पाकर वह निहाल हो जाता है। पर थोड़े दिनो मे जब प्रेम का खुमार उतर जाता है, तब वे प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के दोषो की कटु आलोचना करते नही थकते। कभी–कभी यौवन का उन्माद प्रेम वासना की सुनहली गली को पार करके जब यथार्थता की भूमि पर से गुजरता है तो समझदार प्रेमी-प्रेमिकाएँ अपना सन्तुलन नही खोते। एक दूसरे के गुणो की कद्र करते है। उनका प्रेम विश्वास और सहयोग का पुट पाकर गम्भीर और स्थायी हो जाता है। यह प्रेम की विजय न होकर उनकी समझदारी की जय होती है।

प्रेम मे ईर्ष्या या अधिकार की भावना ही दुःख का कारण बनती है। सच्चा प्रेम किसी व्यवसाय मे लगाई हुई पूँजी नही है कि जिसके बदले मे अधिक दिन दिन बढ़ती जाए, न वह फिफ्टी-फिफ्टी का सौदा ही है। यहाँ

तो देने मे ही सुख है। लेने का जहाँ हिसाब लगाने बैठे कि प्रेम दु.ख का कारण बन जाएगा।

लालसाओ का अन्त नही एक के बाद एक बढती ही जाती है। जिस बात की पूर्ति इन्सान अपने जीवन मे नही कर पाता, उसकी पूर्ति वह अपनी सन्तान के जीवन मे देखना चाहता है। निस्सन्तान व्यक्ति अपने वश की वेल को समाप्त होते देख अत्यन्त दु'खी होता है। उसे इस बात से सन्तुष्टि नही होती कि मनुष्य का नाम उसकी सन्तान से नही सुकर्मो से अमर होता है। सन्तान जहाँ नाम चलाती है, वहाँ डुबोती भी है। गृहस्थियो की अनेक चिन्ताओ का कारण सन्तान ही होती है। बच्चे का पालन पोषण, उसकी तरक्की के लिए अनेक साधन जुटाने का काम क्या कम परेशानी का है? सन्तान के पीछे मनुष्य कितने प्रलोभनो और दुर्बलताओ का शिकार बनता है। उद्दण्ड और अनुशासन-हीन लडके माँ-बाप की जिन्दगी को दूभर करके रख देते हैं। इसलिए निस्सन्तान व्यक्ति को इस पहलू से विचार करते हुये आत्म-सन्तोष करना चाहिए। अपनी सन्तान नही तो दूसरो के बच्चो को प्यार दुलार कर वे अपने मन को प्रसन्न कर सकते है। किसी गरीब, पर योग्य बालक को अपना कर अपना जीवन सरस बना सकते है।

गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्म करो पर फल की आशा मत करो। सुख पाने मे नही त्यागने मे है। सुख के पीछे बावले होकर दौडने मे नही, अपितु कर्मशील होकर दु ख और मुसीबतो से जूझने मे है। यदि आप दु.ख को जीत लेते है, उसे अपने पर हावी नही होने देते तो आप सुखी है। आसक्ति से दूर रहकर दूसरो के लिए जिए। जो मनुष्य अपने परिवार को भूलकर दूसरो के लिए जीता है, उसी को जीने का सच्चा आनन्द मिलता है। माँ-बाप इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर अपने बच्चो के लिए जीते है। उनकी सफलता, सुख और आनन्द मे उन्हे सन्तोष मिलता है। इसी भावना को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करने से मनुष्य परिवार के दायरे से निकल कर समाजोपयोगी जीवन व्यतीत करने मे समर्थ होता है। माया मोह आर्थिक

दृष्टिकोण, स्वार्थ, अर्थ प्रधान नीति मनुष्य को [illegible] है, उसकी वृत्ति को सकुचित करती है [illegible] भूति को तीव्र भी कर देती है। मनुष्य परिस्थितियो [illegible] और जीवन के वास्तविक सौन्दर्य से भी अनजान [illegible]। [illegible] दिलचस्पी, प्रेम, त्याग और सहयोग का दायरा सकुचित हो जाता है।

इन्सान दुर्बलताओ का पुतला है वह परिस्थिति [illegible] है इस तथ्य को स्वीकार करके मनुष्य को दूसरे को उदारता [illegible] के साथ समझने की चेष्टा करनी चाहिए। आप जैसा [illegible] चाहते हैं, वैसा ही दूसरे के प्रति करे। अपने मन को टटोले। [illegible] आत्मा आपको चेतावनी देती है, तो उसे सुने। अपराधी [illegible] समाज से बच जाए पर आत्मा की कचोट उसे चैन से नही रहने देगी। [illegible] को धोखा देना ही सबसे बडा धोखा है। पछतावे की अग्नि [illegible] होती है। उसमे तपे बिना आत्मा पवित्र नही हो सकती।

दूसरो से कुछ पाने मे ही सुख नही है, देने मे भी सुख है। किसी भूखे को खाना खिलाकर या किसी असहाय की मदद करके आपको जो आनन्द मिलता है, उसके आशीर्वाद से आपका जो आत्मिक बल बढता है, वह कुछ कम नही है। "मैं भी दूसरो को सुखी बना सकता हूँ, मेरे सहयोग की किसी को अपेक्षा है" यह भरोसा आत्म-विश्वास पैदा करता है। जो इन्सान अपने को भूलकर दूसरो के लिए जीता है, उसको दु ख नही व्यापता। अधिकाश माताएँ और पत्नियाँ अपने बच्चो व पतियो के लिए बडे से बडा दु ख सहने को तैयार रहती है। उन्हे अपने खाने-पीने या आराम की परवाह नही रहती। इसीलिए माता का दर्जा पिता से अधिक ऊँचा माना गया है।

दु ख को जीतने के लिए हमे अपनी कमजोरियो को ही जीतना होगा। स्वार्थ, माया मोह, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेप आदि से ऊपर उठकर ही मनुष्य दु ख के शिकजे से छुटकारा पा सकता है।

दैवी-विधान और मनुष्य की स्थिति

विशल नदी के प्रवाह की प्रतिकूलदिशा मे चलने पर अथाह जल राशि का विरोध सहन करना पड़ता है। उसकी लहरों के थपेडे खाने पडते है। दम फूल जाता है। हाथ पैरों की जान निकल आती है और फिर वाध्य होकर निर्वल मनुष्य को जबरन उसके प्रवाह की अनुकूल दिशा में वहना पड़ता है। इसी तरह एक नियत विवान से प्रेरित लम्वे समय से गतिशील विश्व-प्रवाह की प्रतिकूल दिशा मे चलकर भी मनुष्य को कष्ट, दु.ख परेशानियो विपत्तियों का सामना करना पड़ता है और अन्त मे उसे प्रवाह के रुख मे ही वहने को वाध्य होना पड़ता है।

संसार की प्रत्येक घटना, क्रिया-कलापो का मचालन एक नियत विधान के अनुसार ही होता है, जिसे प्राकृतिक, ईश्वरीय विधान, कुछ भी कहें। इस विधान की प्रेरणा से सृष्टि का जर्रा जर्रा गतिशील है। इस विधान के अनुकूल चलने पर ही सुख, सुविधा, सहयोग, प्रगति, विकास निश्चित हैं। इतना ही नही उस दिशा मे मनुष्य प्रयत्नकरके विशेष गति और स्थिति-प्राप्त कर मकता है। किन्तु प्रतिकूल दिशा मे चल कर तो संघर्ष अशान्ति, कष्ट, दु ख, पराजय के सिवा और कुछ नही मिलता। इससे उल्टी-अपनी शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट होती है। और मनुष्य-प्रगति की ओर न! चलकर अवनति के गर्त मे गिरता जाता है—पिछड जाता है। शास्त्रकारों ने इसी दैवी विधान के अनुकूल आचरण करना पुण्य और इसके प्रतिकूल चलना पाप कहा है। इसी तथ्य की कसौटी पर परीक्षण करने वाले जीवन विद्या विशारदो ने—महापुरुषो ने कहा है "वुराई का परिणाम सदैव वुरा ही होता है। दुष्कर्म कुचिन्तन, दुर्भावनाओ का परिणाम सदैव दु खदायी ही होता है। क्योंकि ये सव विश्व विधायक के विरोवी, अनैतिक तत्व हैं।

विवेक—हीना और अज्ञान से प्रेरित मनुष्य जव विश्व-प्रवाह, प्रकृति की विकास यात्रा के अनुकूल नही चलता तो प्रकृति उसे एक न एक दिन ठोक पीटकर उस ओर चलने को वाध्य कर ही देती है। जव मनुष्य वाह्य आकर्षणो

मे अपने लक्ष्य पथ को भूल जाता है तो उसे प्रकृति के थपेड़े खाने ही पड़ते। यह निश्चित तथ्य है कि स्वार्थ, क्षणिक सुखोपभोग समृद्धि आदि सभी क्षणभगुर हैं। फलत इनका पर्यवसान अनन्त दुःख मे ही होता है। इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति कई मानसिक और शारीरिक रोगो के शिकार हो जाते हैं, स्वार्थी लोभी लालची लोग हृदय रोग उदर विकार रक्त दोष आदि से पीडित हो जाते है। इसके साथ ही वाह्य जीवन की परिस्थितियो का गठन इस तरह हो जाता है जिससे विश्व-नियम के विरुद्ध चलने वाले को बार-बार ठोकरे लगती है, कष्टो से गुजरना पडता है जनमत का, समाज का विरोध और तिरस्कार सहना पडता है। मनुष्य की समृद्धि, शक्ति, उसका वभव, ऐश्वर्य सुख साधन उसे इन आन्तरिक एवम् वाह्य प्रताडना, पीडा कष्टो से नही बचा सकते और वार-वार इस तरह की होने वाली शारीरिक मानसिक पीडा की अनुभूति-दु खद्वन्द्वो की प्रतिक्रिया कालान्तर मे मनुष्य की बुद्धि को स्थायी सुख नित्यानन्द का मार्ग खोजने, उसके वारे मे विचार चिन्तन करने के लिए वाध्य कर ही देती है। और तब मनुष्य विश्व-नियम, दैवी-विधान, को समझने सोचने और उसे जीवन मे उतारने की दिशा मे प्रयत्न करने लगता है। दु ख द्वन्द्वो की यह मार, कष्टानुभूति की यह कडवी प्रतिक्रिया तब तक शान्त नही होती जब तक मनुष्य अपने जीवन के सही तथ्य को पाकर उस पर आचरण करना प्रारम्भ न कर दे। इस तरह विचारपूर्वक देखा जाय तो दु ख पीडाये कष्टानुभूतियाँ कोई दण्ड नही है अपितु प्रकृति की, ईश्वरीय विधान की एक सुधार प्रक्रियाएे हैं।

मनुष्य के अनेको मानसिक दोषो का मूल जिम्मेदार उसका अहकार होता है। नीतिकारो ने अभिमान को समस्त पापो का मूल बताया है। अभिमान की छत्र-छाया मे ही अनेको मानसिक दोष पनपते है बढते है और फिर मनुष्य के आन्तरिक जीवन को अस्त-व्यस्त असन्तुलित कर देते हे और इन्ही की छाया स्वरूप जीवन के वाह्य पर्दे पर भी उल्टे काम, उल्टा व्यवहार, होने लगता है। किन्तु प्रकृति भी अभिमान को जड से खतम किए

बिना नही छोड़ती । देखा जाता है कि गिरे हुए उठते है और ऊपर चढ़े हुए गिरते हैं ।

वैज्ञानिक अन्वेपणो से यह मालूम हुआ है कि हिमालय पहाड किसी समय समुद्र मे डूबा हुआ था । ऊपर की चोटियो पर प्राप्त मछलियो, जलचरो के अवशेपो से यह सिद्ध भी हो गया है । इसी तरह हिन्द महासागर मे एक पूरे का पूरा महाद्वीप ही डूबा हुआ है । स्थूल-जीवन, वाह्य ससार परिवर्तनशील है । अभिमान का आधार भौतिक विशेपताओ मे ही होता है । अत. एक न एक दिन भौतिक समृद्धि सम्पन्नता शक्ति आदि पर खडा अभिमान का महल स्वत. ही धराशायी हो जाता है । आज जो गिरे हुए हैं कल उठेगे । जो आज अपने को ऊपर उठे हुए जान रहे है उनका एक दिन गिरना भी निश्चित ही है । इस तरह उन्नति अवनति, उत्थान पतन दोनो तरह की परिस्थितियों में समत्व रखने की शिक्षा प्रकृति देती रहती है । प्रकृति के इस रहस्य को समझने वाला व्यक्ति कभी अभिमान के मादक खुमार से मदहोश नही हो सकता ।

शरीर के अन्दर के विकारो का शमन करने के लिए प्रकृति शरीर मे जो प्रतिक्रिया पैदा करती है उसके फलस्वरूप कई रोग फोड़े,फुन्सी, चेचक, बुखार, दस्त, उल्टी, दर्द आदि उत्पात होते हैं । वस्तुत. यह सब शरीर के विजातीय द्रव्यो को निकाल वाहर करने के प्रभाव मात्र हैं । किसी तरह का अत्यधिक कष्ट होने पर प्रकृति माता चेतना को ही शान्त कर देती है ताकि मनुष्य असह्य वेदना से पीड़ित न हो । किसी किसी को जबर्दस्त शारीरिक एव मानसिक आघात लगने पर मनुष्य बेहोश,अचेत हो जाता है ! लोग इन सबको रोग अभिशाप आदि समझते है भगवान को कोसते है । किन्तु हम यह नही सोचते कि यह सब प्रकृति माता का कितना बड़ा उपकार है हम लोगो पर, अन्यथा कष्टदायक वेदना और दोपो के भण्डार दूपित शरीर की क्या स्थिति होती इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है ।

प्रकृति बहुत हद तक शरीर के दोपो को दूर करने का प्रयत्न करती है किन्तु मनुष्य जब उससे कोई सहयोग नही करता और दूषित आचरण

करके उसके नियमो का [illegible]
छीन लेती है और आत्मा को नया [illegible]
कर देती है। जिसे हम मृत्यु कहते है [illegible]
नही है, जिसमे हम जीर्ण-शीर्ण, [illegible]
शरीर की प्राप्ति के हकदार बन जाते है।

शारीरिक विकारो की तरह ही मानसिक [illegible]
चार, दुर्भाग्य आदि का भी प्रकृति [illegible]
जिस बात से चिन्तित अथवा भयभीत होता [illegible]
तरह की परिस्थितियाँ अधिक आती है। और [illegible]
रहकर मनुष्य उनका ऐसा अभ्यासी हो जाता है [illegible]
शेष नही रहते। इसी तरह स्वप्नो के माध्यम से भी [illegible]
का रेचन हो जाता है। जसे स्वप्न देखे जाते है [illegible]
जाता है। काम विकार जन्य दूषित भाव [illegible]
जाते है। स्वप्न मे भूत को बार-बार देखने वाले [illegible]
हैं। हिंसक पशुओ के सम्पर्क मे आने पर तज्जन्य भय [illegible]
है। गन्दे स्वप्न देखने पर गन्दे भावो का रेचन हो जाता है। [illegible]
मृत्यु का दृश्य देखने वाले मृत्यु की चिन्ता से मुक्त हो जाते है। [illegible] निरीक्षण करके देखा जाय तो मालूम होगा मनुष्य जिस विषय के स्वप्न देखता है वह उठने पर उस विषय मे अपने आपको हल्का, स्वस्थ महसूस करता है। प्रकृति माता मनुष्य की मानसिक गुत्थियो विषमताओ को विभिन्न अनुभूतियो के माध्यम से सुलझाती रहती है, चाहे यह कार्यक्रम दृश्य हो अथवा अदृश्य, वाह्य जगत मे हो या स्वप्न-जगत मे।

वाह्य जीवन की परिस्थितियो, बीमारियो, विषमताओ का स्वरूप ही प्रकृति की एक सुधारात्मक प्रक्रिया है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे इस तरह की सुधारात्मक, दोषनिवारक परिस्थितियाँ, वातावरण, परिणाम समयानुसार अवश्य ही मिलते है। यह सब एक ठीक-ठीक नियम, व्यवस्था के अनुसार होता रहता है। अहकारी, शक्तिशाली, गर्व मे चूर दुर्योधन जब अपनी

अनीतियों से वाज नही आया तो उसे अपनी ही आखो अपना सर्वस्व नष्ट भ्रष्ट होते देखना पडा और वड़ी असहाय अवस्था मे शरीर छोडना पड़ा। महावली रावण का दर्प अहंकार उस समय नष्ट हो गया जब उसका सारा वैभव नष्ट हो गया और वह असहाय घायल अवस्था मे रणभूमि मे पड़ा था। जिसने वड़े-वडे देवो पर विजय पाकर उन्हे वन्दी वना छोडा था, उसे दो क्षत्रिय पुत्रों ने कुल सहित नष्ट कर दिया। विश्व विजयी सिकन्दर महान् अपनी अपार सम्पत्ति के होते हुए भी छटपटाता हुआ मरा और उसे कोई न वचा सका। उसका दर्प अहंकार मिट्टी मे मिल गया। दुनिया की खुली पुस्तक मे दैवी विधान की इस सुधार प्रक्रिया का पाठ सरलता से पढा जा सकता है।

दुनिया से छिप कर अपने दुराचरण, पाप, अन्याय अनीति का खेल खेलने वाले समाज और राजनीति की आँखो मे धूल झोक सकते हैं। अदालतो मे झूठे प्रमाणो से अनुकूल न्याय प्राप्त कर सकते है।, चमक-दमक पूर्ण कीमती पोशाक और समृद्धि की चकचौंव से अपने असली स्वरूप को छिपा सकते है, दूसरो को चालाकी से अपना वड़प्पन जता सकते है,। किन्तु विश्वविधायक की नजर से नही वच सकते। वहाँ उनका तर्क, प्रमाण, बुद्धि चातुर्य सव धरा ही रह जाता है। छलवल, दम्भ, समृद्धि आदि कोई भी उसे नही वचा पाते।

दुराचारी अपनी वाह्य सफलताओ के झूठे अभिमान से स्वयं ही ऐसी परिस्थितियो का निर्माण कर लेता है कि जिनमे कष्ट मुसीवतो दुखों का सामना करना पड़ता है, उसका मनोवल नष्टप्राय हो जाता है जिससे जीवन के विभिन्न पहलुओ मे उसे पराजय का सामना करना पड़ता है। गुब्बारे की तरह फूला हुआ अभिमान तनिक सी कष्टकारक अपमानजनक परिस्थितियो की ठेस लगते ही फट जाता है। और तव उसे अपनी असलियत का पता चलता है। स्वेछाचार, दर्प, अभिमान नष्ट होकर मनुष्य अपने को सामान्य श्रेणी मे अनुभव करता है। यह सव ठीक उसी तरह नियमवद्ध होता है जैसे ऋतुओ का आना, दिन रात का होना आदि।

छिपे-छिपे पाप करने वाले कष्ट साध्य मानसिक रोगो से पीड़ित हो जाते हैं।

उनके आस पास का वातावरण इस तरह का बन जाता है जिससे उन्हें दुःखदायी यन्त्रणाये सहन करनी पडती है। ऐसे लोग शान्ति से नही रह पाते। चैन से खा नही सकते न सुख की नीद सो सकते है। इस तरह अन्तर्बाह्य सर्वत्र दुःख, क्लेश, अशान्ति, पीडादायी यन्त्रणाये मनुष्य को वास्तविक सुख और सत्य की खोज के लिये बाध्य कर देती है। जब मनुष्य दैवी विधान के अनुसार मिली ताडना, दण्ड कष्टो से भी नही सुधरता तो प्रकृति उसे चैन से जीने भी नही देती और एक दिन जीने का अधिकार भी उससे छीन लेती है।

संसार एक नियत विधान, नियम द्वारा संचालित और प्रेरित है। संसार का प्रत्येक कण, उसकी गतिशीलता, स्थिति, सम्वर्धन सब उसी नियम के अन्तर्गत चलते है। और यह विश्व-नियम सदैव एक सा, अचल और शाश्वत है। उसके प्रवाह की अनुकूल दिशा मे बह कर मनुष्य विकास और प्रगति की ओर अग्रसर हो सकता है। विशेष प्रयत्न करने पर वह विशेष स्थिति [illegible] सकता है। जैसे नदी के प्रवाह मे पड जाने पर मनुष्य उलटता [illegible] जायगा, यदि वह हाथ पैर हिलाये तो अपनी विशेष [illegible] सकता है।

[illegible] नियम ऊर्ध्वगामी रचनात्मक, सृजनात्मक, सत्य, प्रेम, [illegible]। संसार मे फैली विकृतियां, विपरीतता, अन्याय [illegible] रहे है और इसी कारण मनुष्य सर्वाधिक दुःखी [illegible] की है कि शाश्वत नियम, सिद्धान्तो, [illegible] जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाया जाय तो मानव [illegible]। इसके विपरीत विश्व- [illegible] प्रकृति का कोपभाजन बनना है। जिससे [illegible] यन्त्रणाओ का सामना [illegible] प्रक्रिया ही है।

दुःख का कारण पाप ही नहीं है

आम तौर से दुःख को नापसंद किया जाता है। लोग समझते हैं कि पाप के फलस्वरूप अथवा ईश्वरीय कोप के कारण दुःख आते हैं। परन्तु यह बात पूर्ण रूप से सत्य नही है। दुःखों का एक कारण पाप भी है परंतु यह ठीक नही कि समस्त दुःख पापों के कारण ही आते हैं।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि ईश्वर की कृपा के कारण, पूर्व संचित पुण्यों के कारण और पुण्य संचय की तपश्चर्या के कारण भी दुःख आते है। भगवान को किसी प्राणी पर दया करके उसे अपनी शरण मे लेना होता है, कल्याण के पथ की ओर ले जाना होता है, उसे भव बंधन से, कुत्र-वृत्तियो से छुडाने के लिये ऐसे दुःख दायक अवसर उत्पन्न करते है, जिनकी ठोकर खा कर मनुष्य अपनी भूल को समझ जाय, निद्रा खोलकर सावधान होजाय।

सांसारिक मोह, ममता और विषय वासना का चस्का ऐसा लुभावना होता है कि उन्हे साधारण इच्छा होने से छोडा नही जा सकता। एक हल्का सा विचार आता है कि जीवन जैसी अमूल्य वस्तु का उपयोग किसी श्रेष्ठ काम मे करना चाहिए परंतु दूसरे ही क्षण ऐसी लुभावनी परिस्थितियाँ सामने आ जाती है, जिनके कारण वह हलका विचार उड़ जाता है और मनुष्य जहाँ का तहाँ उसी तुच्छ परिस्थिति मे पडा रहता है। इस प्रकार की कीचड मे से निकालने के लिये भगवान अपने भक्त मे झटका मारते है, सोये हुए को जगाने के लिये बड़े जोर से झकझोरते है। यह झटकना और झकझोरना हमे दुःख जैसा प्रतीत होता है।

मृत्यु के समीप तक ले जाने वाली बीमारी, परम प्रिय स्वजनो की मृत्यु असाधारण घाटा, दुर्घटना, विश्वसनीय मित्रो द्वारा अपमान, या विश्वासघात जैसी दिल को चोट पहुँचाने वाली घटनाये इस लिये आती है कि उनके जबरदस्त झटके के आघात से मनुष्य तिलमिला जाय और सजग होकर अपनी भूल सुधार ले। गलत रास्ते को छोड कर सही रास्ते पर आ जाय।

धर्म-कर्म करने मे, कर्तव्य धर्म का पालन करने मे असाधारण ... सहना पडता है। अभावो का सामना करना पडता है। इनके अलावा दुष्ट लोग अपने पाप पूर्ण स्वार्थो पर आघात होता देख कर उस धर्म सेवी के विरुद्ध हो जाते है और नाना प्रकार की यातनाये देते है। इस प्रकार के कष्ट सत्पुरुषो को पग-पग पर झेलने पडते हैं। यह स्वर्ण समान चमकाने वाले दुख हैं।

निसन्देह कुछ दुख पापो के परिणाम स्वरूप भी होते है परन्तु यह निश्चित है कि भगवान की कृपा से, पूर्व सचित शुभ सस्कारो से और धर्म-सेवा की तपश्चर्या से भी आते है। इसी प्रकार जब अपने ऊपर कोई विपत्ति आवे तो यह ही नही सोचना चाहिए कि हम पापी है, अभागे हैं, ईश्वर के कोप भाजन हैं। सम्भव है वह कष्ट हमारे लिये किसी हित के लिये ही आया हो, उस कष्ट की तह मे शायद कोई ऐसा लाभ छुपा हो जिसे हमारा अलपज्ञ मस्तिष्क ठीक-ठीक रूप से न पहचान सके।

दूसरे लोग अनीति और अत्याचार करके निर्दोष व्यक्ति को सता सकते है। शोषण, उत्पीडन और अन्याय का शिकार होकर कोई व्यक्ति दुख पा सकता है। अत्याचारी को भविष्य मे उसका दण्ड मिलेगा पर इस समय तो निर्दोष को ही कष्ट सहना पडा। ऐसी घटनाओ मे उस दुख पाने वाले व्यक्ति के कर्मो का फल नही कहा जा सकता। हर मौज मारने वाले को पूर्व जन्म का धर्मात्मा और हर कठिनाई मे पडे हुये व्यक्ति को पूर्व जन्म का पापी कह देना उचित नही। ऐसी मान्यता अनुचित एव भ्रम पूर्ण है। इस भ्रम के आधार पर कोई व्यक्ति अपने को बुरा समझे, आत्मग्लानि करे, अपने को नीच या निन्दित समझे इसकी कोई आवश्यकता नही है। कर्म की गति गहन है उसे हम ठीक प्रकार नही जानते केवल परमात्मा ही जानता है।

मनुष्य का कर्तव्य है कि सुख दुख का ध्यान किये बिना सदैव अपने कर्तव्य धर्म का पालन करे और सद्मार्ग पर चले। कार्य मे सफलता मिलती है या असफलता, प्रशसा होती है या तिरस्कार प्राप्त होता है, लाभ

मे रहते हैं या घाटे में, इन सब बातो के कारण अपने कर्त्तव्य का त्याग करना किसी प्रकार उचित नही कहा जा सकता है, क्यो कि जगत मे ईश्वरीय न्याय सब जगह काम कर रहा है। हम अपनी छोटी बुद्धि से उसे समझे चाहे न समझें, वह जल्दी प्रकट हो या देर से आये, पर हमारे कर्मो का सच्चा फल हमको अवश्य मिलेगा। इसलिये हमको किसी भी अवस्था मे ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करना उचित नही।

कुछ भूल जाना आवश्यक भी है

सभी मनुष्यो और विशेष रूप से बुद्धि जीवी व्यक्तियो मे स्मृति की प्रधानता है। इनको बडा सद्‌गुण समझा जाता है। विद्यार्थी हो या अध्यापक वकील हो या जज, लेक्चरोर हो या वक्ता, डाक्टर हो या इन्जीनियर तीव्र स्मरण शक्ति से ये अपने कार्य मे बडी सफलता प्राप्त करते हैं। कुछ लोगो की स्मरण शक्ति इतनी अच्छी होती है कि वह एक दफा जिस आदमी को देख लेते है, उसकी सूरत को कभी नही भूलते। प्राचीन काल मे जब पुस्तकें छापी नहीं जाती थी स्मरण शक्ति ही की सहायता से वेद तथा शास्त्र याद किये जाते थे और सस्कृत को तो प्राय इसी प्रकार जीवित रखा गया है। हर विषय के अध्ययन मे स्मरण शक्ति की आवश्यकता पडती है परन्तु इतिहास, भूगोल इत्यादि मे तो यह विशेष रूप से सहायक होती है। स्मृति एक बडा लाभदायक गुण है। यह स्वीकार करते हैं और समझते है कि विस्मृति एक अभाव है, कमजोरी है और अवगुण है। एक विद्यार्थी खूब याद कर लेने के बाद परीक्षा के समय जब पढा हुआ पाठ भूल जाता है तो अपने को धिक्कारता है और कहता है कि यदि उसमे विस्मृति जैसा अवगुण न होता तो वह नि सदेह प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होता। किसी वकील को अवसर पर जब कानून की कोई धारा अथवा नजीर याद नही आती या किसी डाक्टर को बिना किताब देखे औषधियो के गुण और नाम याद नही आते अथवा किसी अध्यापक या वक्ता को पढे हुये वाक्य या कथन नही याद आते तो वह अपनी विस्मृति पर लज्जित होता है। विस्मृति को कोई नही चाहता और यही इच्छा करता है कि काश उसकी स्मरण शक्ति इतनी अच्छी होती कि वह किसी देखी, याद

की अथवा सुनी हुई चीज को कभी नही भूलता।

इसमे सन्देह नही कि विस्मृति एक महान गुण है परन्तु यह समझ लेना कि विस्मृति एक अवगुण है और हानिकारक है, भूल है। वास्तविकता यह है कि स्मृति की भाँति विस्मृति भी एक गुण है, और जीवन की सफलता के लिये आवश्यक है। यह आश्चर्य की बात भले ही लगे परन्तु नितांत सत्य है कि जितना याद रखना जरुरी है उतना ही भूलना भी आवश्यक है।

एक वृद्ध एवम् नि सहाय आदमी का इकलौता जवान बेटा मर जाता है। उस बुड्ढे के लिये सारा ससार अन्धकार मय दीखता है। वह लाचार है, दु खी है और जिन्दगी से बेजार है क्यो कि उसको हर समय अपने प्रिय पुत्र की जो उसके जीवन का एक मात्र सहारा था हर दम स्मृति बनी रहती है, उसका चित्र बुड्ढे के मानसिक नेत्रो के सामने से नही हटता, उसके कामो और गुणो को याद करके वह हर दम विह्वल होता है। उसकी दशा बडी दयनीय है, उसके मित्र आकर धैर्य रखने की सलाह देते है पर उसको धैर्य नही होता। बजाय धैर्य और सात्वना के अगर उसको "भूल जाने" की सलाह दी जावे और किसी प्रकार उसकी विस्मृति शक्ति को सक्रिय बना दिया जाय तो उसका कितना उपकार हो जावे। अगर किसी प्रकार उसकी स्मरण शक्ति लोप हो जावे और केवल विस्मरण शक्ति का उस पर प्रभाव हो तो उसको अपने पुत्र के वियोग का रत्ती भर भी दु ख नही व्यापेगा, जिस प्रकार "क्लोरोफार्म" सुँघा देने पर शरीर की काँट छाँट करने पर भी कोई पीडा नही होती।

एक विद्यार्थी को परीक्षा मे पास होने की पूरी आशा थी पर वह फेल हो जाता है। अपने अध्ययन का परिश्रम उसकी आँखो के सामने नाचता है। जो हानि और लज्जा फेल हो जाने मे हुई वह किसी दशा मे नही भूलता। [illegible] किसी सस्था के चुनाव मे जब कोई उम्मीदवार [illegible] हो जाता है तो उस ग्लानि, हानि और अपयश की स्मृति करके वह [illegible] होता है। वह असफल विद्यार्थी और पराजित उम्मीदवार किसी

को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहते हैं और कभी–२ आत्म हत्या तक करने पर उतारू हो जाते है। यदि उस समय उनकी स्मरण शक्ति शून्य करदी जाय और केवल विस्मृति का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर रहे तो कैसा अच्छा रहे।

आज वडे चिन्तित है आपके सगो ने जिन पर आपने जीवन भर उपकार किया आपके साथ विश्वास किया या आपके शिष्य अथवा संतान ने आपकी आज्ञा का उल्लघन किया या आप जिनसे आदर सम्मान की आशा करते थे आपका अपमान और निरादर किया तो स्मृति ही के कारण आपको अपने उपकार याद करके महान् दुख होगा। और वही पुत्र, शिष्य अथवा मित्र भी जिनको आप अभिन्न समझते थे आज आपके शत्रु तुल्य दीख पडते है। अगर किसी प्रकार यह सम्भव हो कि–जो अपना कर्तव्य अथवा भलाई आपने उनके प्रति की उसको एक दम से भूल जावे और वह आपको याद ही न रहे तो न तो आपको कोई दुख व्यापे और न पुत्र, शिष्य, मित्र ही के सम्बन्ध की ही ग्रतिथी हो।

एक व्यक्ति किसी समय मे बडी दरिद्रता पूर्ण जीवन व्यतीत कर चुका है अथवा सामाजिक बहिष्कार और अपमान का शिकार हो चुका है या अन्य प्रकार का कष्ट भोग चुका है। या पुराना जमीदार अथवा राजा जमींदारी उन्मूलन तथा राज्य समाप्त होने के बाद अपनी वर्तमान स्थिति मे जब उसे साधारण नागरिक जैसा जीवन व्यतीत करना पड रहा है अतीत की याद करके रोता है झीकता है और अपने सुखद वर्तमान जीवन को भी अकारण शोकमय बनाता है केवल इसलिये कि उसमे विस्मृति का अभाव है। अगर वह सोने के अक्षरो मे लिखी जाने वाली सूक्ति "बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेय" का मनन चिन्तन और पालन कर सके तो कैसा उत्तम हो।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणो से सिद्ध होता है कि दुख चिन्ता जैसे रोगो को दूर करने मे विस्मृति रामबाण का काम करती है। अमेरिका के प्रसिद्ध डाक्टर का कहना है "वर्षों के अनुभव के बाद मैंने निर्णय लिया है कि दुख और चिन्ता को दूर करने के लिये "भूल जाओ" से बढकर कोई औषधि नही है। पुरानी दुखद घटनाओ और मित्रो के अन्याय और कृतघ्नता एव कटु

स्मृतियों के प्रभाव से बचने के लिये अंग्रेजी से एक मात्र नुस्खा "... ... और भूल जाओ" का है जिसके पान करने से प्रभु ... को ... पीड़ा जरा भी नहीं व्यापी और महात्मा (सुकरात) को विष का ... ... मे कोई मनोज नहीं हुआ और वे दोनो हमेशा ... के अमर हो गये।

हर समय प्रसन्न रहना या गाते रहना और ... ... भी पुरानी कटु स्मृतियाँ भूली जा सकती है। मैने एक ... ... वर्षीय योगी "अकिल ब्रेहर" को बड़ा स्वस्थ, ... और सदा मुस्कराते हुये देखकर उनसे पूछा कि आपकी प्रसन्नता ... ... शायद इसलिये है कि आपको ससार का कोई ... नहीं ... ... जीवन है। तो उन्होंने उत्तर दिया कि सासारिक ... ... है कि शायद ही किसी पर हो। मेरी पत्नी मर चुकी है। मैने अपने ... बेटे को उच्च शिक्षा दी, फ्लाईंग आफीसर नियुक्त कराया। उसका विवाह किया परन्तु वह मुझ से रुठ कर चला गया और कई वर्ष हो गये पत्र तक नही डाला और हम दोनो को किसी की भी खबर नही है। मेरा कोई रिश्ते-दार ... ... करने को नहीं है। कुछ दिनो तक मै बड़ा ... करता रहा और बीमार हो गया जिससे बचने की उम्मीद नही रही। इन ... ... मैने तय किया कि मै पुराने इतिहास को भूल जाऊँगा ... ... किया। प्रत्येक युवक को मै अपना लड़का समझता हूँ जो ... ... आ जाता है उसका नि शुल्क योग आसन सिखलाता हूँ और ... ... रोगियो को स्वस्थ बना चुका हूँ। हर समय ... ... स्मरण ... ... रहता हूँ। मुझे कभी ध्यान तक नहीं आता कि मेरा पहला ...

ज्ञाओं पर चलना, रोज का हिसाब लिखना, किसी के आये हुए पत्र का उत्तर अवश्य देना, किसी मीटिंग मे समय पर पहुँचना खास तौर पर जब आपके इन्तजार मे सभा का कार्य रुका रहे आदि। जिन बातो को भूलना लाभप्रद है वे हैं किसी प्रिय का वियोग, चिन्ता दुखद घटनाये, दूसरे की कृतघ्नता तथा अपकार, बुराई के बदले की भावना, पूर्वजो से चली आई पुरानी रंजिश, तथा कोई भी अप्रिय एव प्रतिकूल घटना।

कर्मफल की सुनिश्चितता समझें

गधे के पेट से गधा पैदा होता है और बन्दर के पेट से बन्दर। गेहूँ बोया जायेगा तो गेहूँ उगेगा और चना बोये तो चने की फसल सामने आयेगी। आम की गुठली आम का ही पौधा पैदा करती है और बबूल का बीज काँटे वाला बबूल। हम जो बोते हैं वही काटते हैं।

कर्म बीज हैं और सुख दुख उनके फल। बुरे कर्म दुख और दुष्परिणाम उत्पन्न करते हैं और सत्कर्मो के प्रतिफल सुख एव अन्य सत्परिणामो के रूप मे सामने आते हैं। समय मे अन्तर हो सकता है पर परिणाम अन्यथा होने की कोई गुंजायश नही है। सरसो का बीज दो दिन मे अंकुरित होता है और ताड़ वृक्ष के बीज का अंकुर एक वर्ष मे फूटता है। किस कर्म का फल मिलने मे कितना समय लगेगा, यह निश्चित नही—पर इसे सन्देह रहित ही मानना चाहिए कि कर्मो का फल मिलकर रहता है।

कल का दूध आज दही है। कल वह पतला और मीठा था, आज उसका स्वरूप गाढा और खट्टा है। नाम भी बदल गया। कल उसे दूध के नाम से पुकारा जाता था, आज उसका परिवर्तित नाम दही है। कल के कर्म आज सुख या दुख के रूप मे प्रस्तुत हैं। अथवा अगले दिन वे फलित होकर उपस्थित होंगे।

यह विश्व व्यवस्था कर्म और उसके फल के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण टिकी हुई है। यदि ऐसा न होता तो कोई दुष्कर्मो के तात्कालिक लाभ को छोडता नही और न सत्कर्मो मे जो उचित लाभ मिलता है उतने से

ही सन्तुष्ट होना । दूरगामी ...
जिसने मनुष्य को मर्यादा ...
मत किया है ।

यह हो सकता है कि ...
भी सम्भव है कि कुकर्म ...
प्रसङ्गों मे काल चक्र का ...
तुरन्त खुमारी नही आती । ...
दिमाग तक पहुँचाये तब ... प्रतीत ...
पर जानकार जानते है कि थोड़ा ...
जाता कि नशे का असर होना ही नही ।

कर्म फल तुरन्त न मिलकर ... कि मनुष्य के निजी विवेक और चरित्र की ... तथा दूरदर्शिता की कसौटी पर उसे परखा ... सुविधा देकर भगवान ने मनुष्य को उत्थान और पतन ... मनुष्य को गौरव दिया गया है, उत्तरदायित्व ... णिक समझा गया है कि वह इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करेगा । ... कर्म फल की तुरन्त व्यवस्था होती तो मनुष्य यन्त्रवत् रह जाता । ... स्वतत्र चेतना को न सम्मान मिलता न उत्कृष्टता सिद्ध करने का अवसर । ... बोलते ही जीभ कट जाती तो लोग डरकर झूठ तो न बोलते पर अपनी ... गरिमा सिद्ध करने का अवसर ही हाथ से चला जाता । उस यान्त्रिक व्यवस्था मे श्रेष्ठता और निकृष्टता की परख और प्रतिस्पर्धा ही न रहती ।

कर्मफलो से छूटने के लिये मनौती मनाना या पूजा-पत्री के कर्म-काण्डो का सहारा लेना निरर्थक है । ऐसी सस्ती व्यवस्था यहाँ यदि होती तो लोग दोनो हाथो से पाप कमाते और चट-पट उसे माफ कराने की खटपट करके निपट जाते । तब उस समाज मे न न्याय रहता न व्यवस्था, हर कोई पाप तो करता पर उसके फल से बच निकलने की सस्ती तरकीबे अपना लेता ।

... दुष्कर्मो से ... ना चाहिये । सत्कर्मो मे प्रवृत्त रहना चाहिए । जो

कर चुके हैं उसे साहस और धैर्य पूर्वक भोगना चाहिए। सम्भव हो तो स्वेच्छा पूर्वक आत्म दण्ड स्वीकार करने को—प्रायश्चित्य व्यवस्था अपना कर प्रखर आत्म-बल का परिचय देना चाहिए।

मृत्यु को न जाने हम क्यों भूल बैठे हैं?

जीवन के बहुमूल्य क्षण एक के बाद एक तेजी से बीतते चले जारहे हैं। दिन और रात की उभय पक्षीय खेंच कर रही आरी इस वृक्ष को काटती चली जा रही है। उसका गिरना निश्चित है। आज नहीं कल। कह नहीं सकते—कच्चे तागे पर टँगी हुई मौत की तलवार कब टूट पडे और उस सरस लगने वाले जीवन का अन्त करदे।

अनेक कठिनाइयाँ हमे याद रहती है और उनके हल निकालते है। आपत्तियो की सभावना को पहले से ही देख लेते है और समय रहते उनके बचाव का रास्ता खोज लेते है। कम से कम सचेष्ट और प्रयत्नशील तो रहते ही है। संभावित आपत्तियो को सर्वथा विस्मृत तो नहीं ही करते।

पर कैसा घोर आश्चर्य है कि मृत्यु जैसे सर्वोपरि सकट की बात कभी सूझती ही नहीं। सकट भी ऐसा वैसा नहीं—इतना भयानक कि दीखने वाले सारे खेल को एक ही फूँक मे उडा कर रखदे। सो भी इतना अनिश्चित कि कभी कल भी सामने आकर खडा होजाय, और जो कुछ हाथ मे है सब कुछ छीन कर ले जाय ऐसे सकट को कभी याद भी न आये। इससे बढकर मनुष्य की अचरज भरी भूल और क्या हो सकती है?

गोदी के बच्चे का उठा ले जाता है। हँसते खेलते बालक उछलते कूदते किशोर—इठलाते मरदाने युवक आखो के सामने रोज ही मरघट मे जाते रहते है। समय पूरा करके शतायु भोगने वाले भाग्य शील उँगलियो पर गिनाने जितने होते है। अधिकाश तो आधी अधूरी उम्र मे ही विदाई लेलेते है हम यही मानकर बैठे है कि अपने मरण का कोई प्रश्न नही। अजर अमर की तरह हम लाख करोड वर्ष जियेगे। मरना तो औरो को है। हमारी मृत्यु क्यो आयेगी?

कदाचित मृत्यु को देखा और समझा जाना होता। किसी [illegible] चूहे पर घात लगाये बैठी रहती है उस विभीषिका को समझा होता। काल के मुख में जाने वाले-- गोदी में भरे हुए चने चबाने के स्वाद में डूबने [illegible] को देखा होता तो अपनी वस्तु स्थिति निरीक्षण कर सकने वाली दूरदर्शिता जाग्रत हो जाती।

दूसरों की काया को चिता में जलते हुए देख कर यदि अपनी काया की भी कभी ऐसी दुर्गति कल नहीं तो परसों होने की यथार्थता का यदि अनुभव किया होता तो मूर्छा जगती जो आज घोर अज्ञान के अन्धकार में सोते हुए बालू के किले खड़े करने की बालक्रीड़ा में लगी मोद मना रही है।

देवोपम विभूतियों से सम्पन्न यह मनुष्य शरीर उच्च उद्देश्यों के लिये मिला है। अनुकरणीय आदर्शवादी जीवन, विश्वकल्याण में योगदान, आत्मा का परमात्मा से विवाह जैसे अति महत्वपूर्ण कार्य इसी मनुष्य जीवन की शुभ घड़ी में सम्भव होते थे। पर हाय रे दुर्भाग्य यह पुण्य वेला पशुओं से भी गई गुजरी बीत रही है। पशु मर्यादाएँ नहीं तोड़ते, पाप नहीं बटोरते पर अपनी [illegible] तो उलटी हो चली। मनुष्य से देवता बनना लक्ष्य था पर पशु [illegible] पिशाच बनकर यह पाप की इतनी भारी गठरी सिर पर न जाने कब तक ढोते रहना पड़ेगा।

[illegible] कर्म में प्रवृत्त होकर अकर्म से सटकर— इतनी [illegible] ना सका। कारण एक ही है—माया के आव[illegible] देना।

[illegible] इर्द-गिर्द मँडराती हुई देखें, काया के चिता [illegible] उसका महत्व समझें तो विवेक की आँख [illegible] करने के लिए भी कदम बढ़ें। अभी [illegible] रहा है कि उसका आहा[illegible] हुआ। [illegible] के पतन से [illegible] मनोरथ पूर्ण [illegible] देती। मृत्यु का प्रत्यक्ष [illegible] रहता है। इस अवस्था को [illegible]

मृत्यु के लिये पहले से ही तैयारी करें

मरते समय शारीरिक पीड़ा प्राय नही के वरावर होती है। वीमारी मे जितना कष्ट सहना पडता है, मरते समय उतना भी नही होता। इसलिए मरने से इस आधार पर डरने की जरूरत नही है कि उस समय अधिक कष्ट होगा।

दाँत मे कीडा लगने या उखडने के दिनो वहुत दर्द होता रहता है। पर जब कुशल डाक्टर उसे निकालता है तो सुई लगाकर उसे सुन्नकर देता है और यह पता भी नही चलता कि कव उखड गया। अस्पताल मे किसी चोट या व्रण का आपरेशन कराने के लिये भर्ती होना पड़ता है पर जव डाक्टर आपरेशन करता है तो वेहोशी की दवा सुँघा देता या सुई लगाकर सुन्न कर देता है। रोगी के साथ डाक्टर की सद्भावना रहती है सो वह विना कष्ट पहुँचाये ही अपना प्रयोजन पूरा कर देता है।

मृत्यु का समय आने से पूर्व कुछ दिन वीमार रहना पडता है। वीमारी मे स्नायु मण्डल और नाडी मण्डल दुर्वल हो जाता है और अनुभूति की क्षमता शिथिल पड जाती है। जैसे-जैसे मरने का समय निकट आता जाता है वैसे-वैसे यह शिथिलता और वढ जाती है। मस्तिष्क अपना काम समाप्त करता जाता है। प्रायः मरने से पूर्व हर व्यक्ति अचेत हो जाता है। उसकी चेतना लुप्त हो जाती है। कुटुम्बियो तक को पहचानने की शक्ति नही रहती। जीभ वोलना वन्द कर देती है और कान, आँख, आदि खुले रहने पर भी अपना काम नही करते। अनुभव करने की शक्ति धीरे-धीरे अधिकाधिक शिथिल होती चली जाती है और मरने की घडी आने से पूर्व ही वह अचेतन अवस्था इतनी घनी हो जाती है कि प्राण त्यागने के समय प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नही होता।

मृत्यु के समय अधिकतर लोग वहुत व्यथित और उद्विग्न पाये जाते है। इसका कारण शारीरिक नही मानसिक है। एक तो मनुष्य मोह, ममता

के बन्धन में बेतरह जकड़ जाता है और उन्हें [illegible] होता [illegible]। [illegible] छोटी आसानी से कट जाती है पर यदि वे शरीर से बहुत [illegible] हो तो काटने में कष्ट होगा। [illegible] मेरा—घर मेरा—कुटुम्ब मेरा—[illegible] जितना गहरा और कड़ा होगा उसका टूटना मानसिक दृष्टि से [illegible] भारी पड़ेगा। यदि पहले से ही मनुष्य यह सोचता रहे कि धन [illegible] परमेश्वर की है मैं उसका कार्यों में प्रयुक्त करने वाला कर्मचारी [illegible] हूँ। स्वामित्व मेरा किसी पर नहीं। तो उन वस्तुओं से मोह न बढ़ेगा और वे छूटते समय कष्ट न देंगी। इसी प्रकार सब जीवों को ईश्वर का [illegible] और पुत्र [illegible] स्वतन्त्र इकाई माना जाय। उनके साथ रास्ता चलते पथिक जैसा संयोग माना जाय। परिवार इसी उद्यान का अपने को माली भर समझा जाय। तो [illegible] कुटुम्बियों में ममता न बढ़ेगी। स्नेह सद्भाव के निर्वाह और कर्तव्य [illegible] संतोष और आनन्द आता रहेगा। उनके वियोग में वैसी पीड़ा न होगी [illegible] जो ममता में अज्ञानग्रस्त लोगों को होती है।

अज्ञान-बन्धन काटें—उन्मुक्त जीवन जियें

लगता है सचमुच किसी ने हमे जकड़कर बांध रखा है और इच्छानुसार एक भी काम नही कर सकते। एक कदम भी आगे नही बढ़ सकते। जब भी इच्छानुसार किसी दिशा मे चलने का प्रयत्न करते हे तभी हाथो मे पड़ी हथकड़ियाँ बेड़िया कड़ी हो जाती है और विवश करती है कि हम एक कदम भी आगे न बढे। जहाँ है वही रहकर सन्तोष करे।

आत्मा अपना स्वरूप जानती न हो ऐसी बात नही है। शास्त्रो मे सत्सङ्गो मे यही तो पढ़ते सुनते हे कि हम आत्मा है। आत्म-कल्याण के लिये जीवन मिला हुआ है। उसी के लिये प्रयत्न करना अभीष्ट लक्ष्य है। शरीर और मन तो वाहन हे। सेवा सहायता करने के लिये सेवको के रूप मे मिले हुये हे। इन्द्रियाँ ज्ञान वृद्धि, इच्छा पूर्ति और क्रिया कलाप को सम्पन्न करने के उपकरण है। परिवार एक प्रयोगशाला, व्यायामशाला है जिसके माध्यम से आत्मोन्नति के सद्भावना और सत्प्रवृत्तियो के अभिवर्धन का प्रयास किया जाता है। अपने पन का क्षेत्र बढाते चलना—सज्जनता और उदारता को विकसित करते चलना—यही आत्म-विकास है और यही अभीष्ट।

आत्म ज्ञान की परिधि इतनी ही है। और इसे हमने एक बार नही हजार बार सुना समझा हे। कितनी ही बार तीव्र आकाक्षा भी उठी हे कि जीवन सम्पदा का सदुपयोग होना चाहिए। इच्छा तो सदा ही किसी न किसी रूप मे बनी रही हे कि कुछ तो परमार्थ के लिय—आत्म-कल्याण के लिये—जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिये—होना ही चाहिए। कितनी ही बार तो इस दिशा मे कुछ भी न बन पड़ने से भारी पश्चात्ताप होता है। मृत्यु की घड़ी परमात्मा के न्यायालय मे उपस्थित—कर्मफल की अनिवार्यता की सचाइयाँ जब विवेक बुद्धि देखती है तो थरथरी आती है—कँपकँपी छूटती है। इन तीनो तथ्यो का सामना करना पड़ेगा। उससे बच निकलने का कोई रास्ता नही। इन तीनो ही कसौटियो पर खरे सिद्ध होने की अपनी कोई तैयारी नही हर परख पर खोटापन ही साबित होगा। तब कितनी दुर्गति का सामना

करना पड़ेगा उनका भयानक स्वरूप आँखों के सामने आता है तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

आज की गतिविधियाँ सन्तोषजनक नहीं हैं? जिया तो जा रहा है पर इसमें तथ्य कहाँ? लक्ष्य कहाँ है? दिशा कहाँ है? निरर्थक ही समय व्यतीत हो रहा है। अनर्थ मूलक क्रिया कलाप चल रहे हैं। जिधर चलना था ठीक उससे उल्टी दिशा में कदम बढ़ रहे हैं। लक्ष्य की समीपता निकट आने की अपेक्षा निरन्तर अधिक दूर हटती जा रही है।

इस वस्तुस्थिति को हम जानते न हों—ऐसी बात नहीं। मानते नहीं सो भी नहीं। तथ्य को भूल न जायें इसलिये स्वाध्याय, सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, पूजा-पाठ की प्रक्रिया को भी चलाते रहते हैं। आस्तिकता का दर्शन और उपासना का कर्म-काण्ड बनाया ही इस प्रयोजन के लिये गया है कि मनुष्य विस्मृति के गर्त में न गिर पड़े। आत्म ज्ञान का 'प्रकाश' के नाम से सन्दोहन इसलिये किया जाता है कि उसके सहारे सही दिशा विदित होती रहे। [illegible] की भूल भुलैयों में भटकने से बचा जा सके।

[illegible] मिलता रहता है और दिशा सूझती रहती है। उस पर [illegible] रहता है और कभी-कभी आकुलता भी रहती है, पर कुछ [illegible] साहस समेटते हैं—कुछ करना चाहते हैं। पर सब निरर्थक [illegible] कल्पना करते रहें तब तक तो कोई रोक-थाम नहीं—केवल [illegible] पर सोचते रहें मन उचट भर जाता है। पर जब कभी [illegible] होते हैं और पत्नियता अपनाना चाहते हैं तो बेड़ियाँ [illegible] की कड़ियाँ जकड़ जाती हैं। बन्धन कड़े हो जाते हैं। [illegible] नहीं बढ़ा जा सकता। [illegible] की स्वाधीनता है— [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] की मर्जी के बिना बन्दी [illegible] और [illegible] रहो।

[illegible] है। [illegible] से कूद कर [illegible] आगे बढ़ने की भी पर [illegible] करती है? कितने बटतारक हैं

यह बन्धन। कितनी भयकर है यह जजीर, जिनके रहते प्रकाश की ओर एक कदम भी बढना सम्भव नही। अन्धकार मे तनिक भी छूटने की गुजायश नही।

नशे में गन्दी नाली मे पडा हुआ शराबी भी बहिश्त के मजे लेता रहता है पर जब होश आता है तब उसे अपनी दयनीय दशा का पता चलता है। बन्धनकारी तत्त्व यह जानते है कि कैदी बन्धन तुडाने का प्रयत्न कर सकता है इसलिये नशा पिलाते रहने की उन्होने पूरी व्यवस्था रखी है। ताकि बन्धन कष्टकारक दीखने की अपेक्षा और भी अधिक मनोरम लगने लगे। हायरे हम नशा पीते और बन्धनो को सहराते इन बहुमूल्य क्षणो को ऐसे ही गुजारे द रहे है।

बन्धन जिनने जीवन का प्रयोजन ही भ्रष्ट कर दिया। आखिर है क्या? गम्भीर विचार परायणता ही उसका हल निकाल सकती है—बन्धन दीखते तो है नही? हाथ पाव तो खुले है—जेल या बाडे मे भी बन्द नही? चमडे की आखे तो इन बन्धनो को देख भी नही पाती। सूक्ष्म दृष्टि ही इन अदृश्य बन्धनो को देख समझ सकती है।

मोह मयी मदिरा ही है जिसने हमारी प्रज्ञा को कुण्ठित कर इन बन्धनो को स्वीकार करने के लिये सहमत किया है। मोह—माया—वासना—तृष्णा—अहन्ता। कितनी आकर्षक—कितनी रूपवान मण्डली है यह। देखने मे अप्सरा सी लगने वाली इन विष कन्याओ का जब नृत्य होता है तो उस रङ्ग स्थली से उठने को जी नही करता। लगता है—देखते ही रहे—इन्ही मे तन्मय हो जायँ—इन्ही को आत्म सात कर ले। बन्धन बधते ही चले जाते है।

सपेरे यही तो करते है। बधिको का यही तो धन्धा है। बीन की मधुरता पर मुग्ध होकर—बेचारे सर्प अपने सुखद घर को छोडकर कुछ अतिरिक्त आनन्द पाने के लिये बाहर आते है। मृग इसी कुचक्र मे मारे जाते है। बधिक की बीन उन्हे बडी आकर्षक लगती है। अपने झुण्ड को भूल जाते है। चौकडी बन्द कर देते है और मोह ग्रस्त होकर जाल मे फँस जाते है। होश तब आता है जब बीन बन्द होती है। तब वे अपने को निविड बन्धनो मे कसा

हुआ देखते है। तब उन्हे ... आती है।

हम उन्ही बन्धनो मे बँध गये है। ... बढकर और कोई दुख नही। समस्त शोक-सन्तापो ... का अवरोध इन्ही ने कर रखा है। जब तक यह टूटेगे नही— ... दुर्गति का अन्त नही होगा। इन्हे काटो—इन्हे तोडो। यही परम ... मुक्ति की ओर चलो यही इस जीवन की परम ... है। ... फेको—होश मे आओ। अपना स्वरूप समझो—अपनी स्थिति को जानो ... क्या करना अभीष्ट है इनका शान्त चित्त से निर्धारण करो। यही महान जागरण है। मूर्छना से जगजाना—स्वप्न लोक का परित्याग कर ... की तरह देखना—विचारवानो की तरह सोचना। यही देव वरदान है। इसे प्राप्त करो और धन्य हो जाओ।

बन्धन क्या ? मुक्ति क्या ? बन्धन—अर्थात् अज्ञान जन्य व्यामोह। अपने को शरीर और मन, समझना है। इन्द्रियो की रसानुभूति मे रम जाना। वस्तुओ के संग्रह मे अहन्ता की तृप्ति देखना। सेवा के लिये मिले परिवार को अपनी सम्पदा मानना। अन्धी भेडो का अनुगमन करना। स्वतन्त्र चिन्तन छोड बैठना। इसी स्थिति का नाम बन्धन है यद्यपि यह सब ... है पर ... निविड और कितने कठिन है कि इनके रहते जीवन लक्ष्य की दिशा मे—आत्म कल्याण के पथ पर एक कदम चलना सम्भव नही होता।

मकडी अपने पेट मे से रस निकालकर जाला बुनती है और ... है। रेशम का कीडा अपना ... आप बनाता है और ... प्राण दे देता है। नशा स्वयं ही पिया जाता है और अपनी ... ही ... किया जाता है। दाने के लोभ मे चिडिया, ... के प्रलोभन मे चुहिया जाती ... और खोती ... बेचारी ... मे ... गई। हमारी ... है।

... है ... ? कुत्ता ... हड्डी चबाता है और जबडो

से मिलने वाले रक्त के स्वाद को हड्डी का स्वाद मानना है। इन्द्रिय भोग अपनी शक्ति और सामर्थ्य को फुलझड़ी की तरह—होली की तरह जलाने की बात सीखा है। वासना से पाना क्या—केवल गँवाना ही गँवाना है। क्षणिक से आवेश की आड़ मे बैठे हुए अनर्थ को न देख पाना बुद्धिमत्ता कहाँ है?

पदार्थ सृष्टि के आदि मे थे, और अनन्त काल तक यही रहेगा। भूमि, धातु आदि के रूप मे जो सम्पदाएँ आज दोनो हाथ से समेटने मे लाभ ही लाभ गिना जा रहा है वह भ्रम मात्र है। अधिकार जमाने मे भी सूरज, चाँद, तारे, बादल, अपने नही हो सकते। यह प्रकृति की सम्पदा केवल देखने और उपयोग करने भर के लिए है। स्वामित्व जताने के लिए, सात पीढी तक बैठकर खाने के लिये जमा की जाने वाली अमीरी कितना उपहासास्पद है। समुद्र की लहरो का बाँधना बचपन के अतिरिक्त और क्या है। प्रकृति की सम्पदा पर अपनेपन का अधिकार जमाना—सग्रह करना—सदुपयोग की बात भूल जाना—यह तृष्णा ही है जो बन्धन बनकर हमे बाल-क्रीडा मे उल-झाये रहती है और लक्ष्य की दिशा मे बढने मे अवरोध बनकर खडी होती है।

कुटुम्बियो की सेवा सहायता करना कर्त्तव्य है। उस उपवन के माली भर रहना पर्याप्त है। वे ही हमारे है—हम उन्ही के है—इस सङ्कीर्णता मे बँधा हुआ जीवन उन थोडे लोगो तक ही सीमित हो जाता है। उनके लिये भी सुसस्कार और सद्गुणो की सम्पदा नही जुटती केवल सुविधा और विलासिता के साधन सौपे जाते है। इससे उन बेचारो की आदते बिगड जाती है और पीछे दुख पाते है। इस ससार मे अज्ञानियो का बाहुल्य है। रास्ते पर चलने वाले कम और भटकने वाले ज्यादा है। भटकने वालो के परामर्श को सुझाव को मानकर अन्धी भेडो का अनुकरण करने मे आँख वाली भेड को भी खड्ड मे ही गिरना पडेगा। लोग क्या कहते है—लोग क्या चाहते है जो उस फेर मे पडेगे उन्हे उन्ही की तरह उलटे रास्ते पर चलना पडेगा और उन्ही का जैसा हेय जीवन जीना पडेगा। दुनिया वालो का नेतृत्व स्वी-

द्रष्टा नहीं स्रष्टा बनना [illegible]

मन स्थिति की दृष्टि से मनुष्यों को दो [illegible] सकता है। एक स्रष्टा दूसरे द्रष्टा।

स्रष्टा वे है जो कुछ बनने और बनाने की योजना [illegible] और अपनी शारीरिक—मानसिक एव भौतिक शक्तियों को योजनाबद्ध [illegible] से व्यवस्था पूर्वक नियोजित करते है।

द्रष्टा वे है जो दुनियाँ की हलचलो, मन की हरकतो और [illegible] की गतिविधियो को देखते भर रहते है और उनमे से अनुकूलता, प्रतिकूलता के आधार पर—प्रिय अप्रिय का—सुख-दुःख का अनुभव करते रहते है। देखते रहना ही उन्हे पर्याप्त होता है। इतने से ही उनका सन्तोष समाधान हो जाता है। प्रिय दर्शन की इच्छा से ही वे इधर-उधर आते जाते और कुछ करते धरते दीखते है। निर्माण मे उनकी रुचि नही होती।

स्रष्टा होने की प्रतिभा कम ही लोगो मे पाई जाती है। यद्यपि वह होती सभी मे है और अनुकूल परिस्थितियो मे विकसित भी की जा सकती

है पर इस सृजन क्षमता का उपयोग कोई-कोई ही करते हैं। आमतौर से ऐसा बनना सरल पड़ता है उसके लिये कोई उत्तरदायित्व नहीं उठाना पड़ता और न कर्तव्य निर्धारित करना पड़ता है। जो हो रहा है उसी में सम्पर्क बनाने में काम चल जाता है। मनोरंजन की परिस्थितियाँ भी इस संसार में कम नहीं हैं। उन्हें पास ले आना या उनके पास पहुँच जाना कुछ बहुत कठिन नहीं है। यों उनमें भी विनोद के पास खिसक जाना सरल पड़ता है। उसे अपने पास बुलाने में तो भी झंझट पड़ता है और प्रयत्न करना पड़ता है।

कितने ही व्यक्ति अपने अवकाश का समय, सिनेमा, नाटक, नाच, गाने, खेलकूद, सैर सपाटे, गपशप, ताश, शतरंज जैसे कार्यों में व्यतीत करते हैं। कुछ नहीं हुआ तो रेडियो से हलके फुलके गाने सुनते रहते हैं। इस कार्य में एकाकी रहने में मजा नहीं आता—साथियों के संग अच्छा रंग जमता है इसलिये ऐसे लोग अपनी ही प्रकृति के और लोग भी तलाश करते रहते हैं। पास नहीं मिलता तो दूर जाते हैं। अथवा ऐसा प्रयत्न करते हैं कि अपने पास पड़ोस में ही अपनी जैसी मनमौजी प्रकृति के दूसरे लोग ढाले बनाये जायँ। इसके लिये वे तरह-तरह के प्रयत्न करते हैं। दोस्ती गाँठते हैं, सज्जनता बरतते हैं, दरवाजों पर चक्कर लगाते हैं, गाँठ से खर्च भी करते हैं और तब तक उस प्रयास में लगे ही रहते हैं जब तक की 'शिकार' भी उन्हीं जैसा मन चला नहीं बन जाता। इस प्रकार यह प्रवृत्ति छूत की बीमारी की तरह यारबासी के साथ-साथ बढ़ती रहती है।

ऐसे लोगों के सामने कोई उद्देश्य नहीं होता, भविष्य की उन्हें कुछ चिन्ता, नहीं होती, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता, प्रगति और उन्नति की कभी-कभी कल्पना तो करते हैं पर उत्कंठा उसकी भी नहीं होती। हलकी फुलकी दिनचर्या बनाकर बिना बोझ और उत्तरदायित्व का मनमौजी ढर्रा ही उनके अभ्यास में जुड़ जाता है।

ऐसे हलके फुलके ढर्रे पर चलने वाले—उसमें रस लेने वाले लोग—या तो ओछे स्तर के होते हैं या बन जाते हैं। क्योंकि प्रतिभा सम्पन्न और प्रगतिशील लोग सदा अपने कामों में व्यस्त रहते हैं। जिनके सामने कुछ

रही बात नहीं वे तो इस प्रकार गन्दगी में ग्रस्त रहते हैं। [illegible]
पनपते हैं और ऐसे वातावरण में दोष दुर्गुण ही [illegible]
वातावरण में वे लोग भी दुष्प्रभावित हैं जो इन [illegible]
उठाये। नशा जुआ, चोरी—व्यभिचार आदि कितनी ही [illegible]
ऐसे वातावरण में पलती और पनपती है। [illegible]
[illegible] सहज भी है और स्वाभाविक भी। [illegible]
सीमित नहीं रहती। इस स्तर के लोग जब [illegible]
[illegible] का ही होता है। [illegible]
में इतनी हल्की जिन्दगी कितनी भारी और जटिल [illegible]
[illegible] और दोष दुर्गुणों की शृङ्खला सीमित नहीं रहती— [illegible]
[illegible] कड़ी जुड़ती ही चली जाती है।

कल्पना—उठती उमर ऐसे ही अल्हड़पन को लेकर आती है। नया उत्साह होता है और दुनियाँ के प्रति नया कौतूहल। तब कुछ करने या बनने की [illegible] देखने और कुछ चखने की उत्कंठा प्रबल होती है। इस [illegible] दिशा देने का उपयुक्त साधन न हो तो फिर पानी नीचे की ओर ही [illegible]। तब नशेबाजी [illegible] का—और ऐसी ही चौकड़ी में फँस जाने का— [illegible]। समय कटता जाता है और पूँजी चुकती जाती है। मन, [illegible] जो ओज पास में था वह क्रमश घटता ही चला जाता है [illegible] तब जिम्मेदारियों का बोझ इतना भारी हो जाता [illegible] किसी महत्वपूर्ण दिशा में प्रगति कर सकना असम्भव [illegible] हो जाता है।

[illegible] एक दिशा और कार्य पद्धति [illegible] सोचता है और सहयोग देने वाले [illegible]। [illegible] सुन्दर व्यवस्था है कि सहयोगी [illegible]। [illegible], जुआरी, व्यसनी, चोर, व्यभिचारी ही [illegible] सद्गुणों की भी कमी नहीं। [illegible] हो जाता

है। एक-एक कदम बढ़ाते चलने से लम्बी यात्रा पूरी की जा सकती है। एक-एक बूँद सग्रह करने से घडा भर जाता है। लक्ष्य और प्रयत्न यदि जुड़े रहे तो प्रगति निश्चित रूप से होगी भले ही वह परिस्थितिवश धीमी और कष्ट-साध्य क्यो न बनी रहे।

मनमौजी लोग प्रगतिशील लोगो के साथ जब अपनी तुलना करते है तो उन्हे जमीन आसमान जितना अन्तर दीखता है। स्कूल मे साथ पढने वाले फिसड्डी और गरीब लडके अब कहाँ पहुँच गये—कितने आगे बढ गये जबकि अपने पास सुविधा-साधन रहने पर भी कुछ बन नही सका। उठना तो दूर उलटे नीचे ही खिसकते चले गये। और स्थिति मे इतना अन्तर पड गया। जिसे देखकर आश्चर्य होता है।

इस अन्तर की ठीक से समीक्षा न कर सकने वाले लोग सरल सा समाधान भाग्यवाद को ढूँढ लेते है। वे प्रशसा या निंदा भाग्य की करते है और उसे ही इस उतार चढाव का कारण मानते है। पर वास्तविकता ऐसी है नही। मनुष्य के स्रष्टा और द्रष्टा क्षेत्र मे से एक की पसन्दगी ही वह आधार है जिसे अपनाने पर ऊँचे चढना या नीचे गिरना सम्भव होता है।

द्रष्टा मनोरजन के स्थान और अवसर ढूँढने के लिये मारा-मारा फिरता है। नवीनता जब तक रहती है तब तक मौज अच्छी लगती है। पुरानी होने पर वही बात नीरस और अप्रिय लगने लगती है। हर रोज एक ही सिनेमा देखना—एक ही मिठाई खाना—एक ही गाना सुनना कौन पसन्द करता है। नवीन के बिना मनोरजन मे रस ही नही रहता। नये अवसर कहाँ तक आये, नई विनोद सामग्री कहाँ तक मिले ? मन मे अतृप्ति ही बनी रहती है। समय, श्रम, मनोयोग, धन की प्रचुर मात्रा खर्च करते रहने पर भी अभाव, असन्तोष और अतृप्ति का ही अनुभव होता है। उतने साधनो का सदुपयोग करके जो कहने लायक प्रगति हो सकती थी उसका घाटा तो प्रत्यक्ष ही है। द्रष्टा प्रवृत्ति जिस प्रसन्नता और तृप्ति को लक्ष्य मानकर सुसज्जित हुई थी उससे सदा उसे वचित ही रहना पडता है। जो

भारी लगता है तो सारी हिम्मत बटोर कर अपने मानसिक क्रिया-कलाप को उसी ढांचे मे ढालने के लिये उठ खड़ा होना चाहिए।

आन्तरिक सौन्दर्य ही शाश्वत है

पदार्थ अपने वाह्य स्वरूप मे बहुत ही तुच्छ होता है, मोटी दृष्टि से देखने मे वह एक छोटा-बड़ा, उपयोगी–निरुपयोगी तथा अपनी विशेषताओं युक्त एक साधारण सा कलेवर मात्र प्रतीत होता है। कला का उद्देश्य कलेवर के अन्तराल मे छिपे हुए सौन्दर्य को प्रकट करना है। समस्त कलाये इसी उद्देश्य की पूर्ति मे लगी हुई है। मनुष्य प्रकृति के जिस गुह्य सौन्दर्य को अपनी मोटी दृष्टि से नही देख पाता उसके लिये यह सभव करती है कि उस गुह्य को देख और समझ सके। कला की खराद पर खरादी गई हर वस्तु चमकती है, अपना अन्त सौन्दर्य सब के सामने प्रकट कर सकने मे समर्थ होती है। इसी लिये कला का इतना मान और महत्व है। कला रहित को पुच्छविषाण हीन पशु इसीलिए कहा गया है कि उसे पदार्थो मे अन्तर्हित दिव्य सत्ता का भान न हो सका केवल उसने वस्तुओ का बाहरी रूप ही देखा, जैसा कि मन्द बुद्धि के पशु देखते है।

ससार मे अनेक कलाये है और उनकी सहायता से प्रकृति के गर्भ में पग-पग पर छिपे हुए सौन्दर्य का उद्घाटन होता है। उसकी अनुभूति से मनुष्य की आत्मा आनन्द विभोर हो उठती है, उसका उल्लास थिरकने लगता है। इस काले कुरूप, दुख दैन्य मे भरे भवसागर कहे जाने वाले ससार के कण-कण को सुरम्य पुष्पोद्यान की तरह मनोरम अनुभव कराने की शक्ति कला मे ही है इसलिये कला का उपासक ही इस ससार के मनोरम सौन्दर्य का रसास्वादन कर पाता है। कला विहीन के लिये यहाँ जो कुछ भी है सब कूड़ा कचरा, बन्धन और विद्रूप ही है।

कलाओ का मूल है 'अध्यात्म'। आध्यात्मिक अनुभूतियो के जागरण से प्रकृति के सौन्दर्य को, पदार्थो मे छिपे लालित्य को समझ सकना सम्भव होता है। किसी चित्र की सुन्दरता को देख कर प्रसन्नता प्राप्त कर सकना तभी सम्भव

यंत्र टूटे पड़े है। परन्तु जिस प्रकार संसार में प्रकृति के सर्वत्र बिखरे हुए सौंदर्य को नही समझ पाते उसी प्रकार मनुष्य भी विभिन्न आत्माओं मे भरे पड़े दिव्य सौंदर्य को भी कहाँ देख पाता है ? अध्यात्म के अभाव मे उसकी स्थिति एक प्रकार के अन्धे के समान हो रही है।

दूसरो की बात जाने दीजिये हम अपने आप को भी कहाँ देख और समझ पाते है ? अपने स्त्री बच्चो मे, स्वजन सबन्धियो मे, जो अनेको सद्गुण, अनेको सद् वृत्तियाँ, अनेको सद् भावनाये तथा विशेषताये भरी पडी है उन्हे देखने समझने की क्षमता हममे कहाँ है ? इस अभाव के कारण वे हमे केवल रूखे, फूहड, कुरूप, एव भार रूप मालूम पडते है। क्या वस्तुत वे ऐसे ही है ? क्या सचमुच उसमे कोई ऐसी विशेषता नही है जो हमे उल्लास एवं आह्लाद प्रदान कर सके ? क्या वे केवल भार भूत ही पैदा हुए है ? क्या उनमें ईश्वर ने ऐसा कुछ परिश्रम नही किया है जिसकी अनुभूति से हम आनन्द लाभ कर सकें।

हमारी दृष्टि मे सौंदर्य भावना का न होना ही संसार मे कुरूपता दीखने का एक मात्र कारण है। बेचारा अन्धा किसी मनोरम दृश्य से क्या अनुभूति ग्रहण करेगा ? वस्तुत इस ससार मे सर्वत्र सौंदर्य ही सौन्दर्य बिखरा पड़ा है, सर्वत्र रस टपक रहा है। उल्लास और आह्लाद प्रदान करने वाले तत्व हर वस्तु मे हर प्राणी मे हर व्यक्ति मे भरे पडे है । उसे ढूँढ सकने, समझ सकने और अनुभूति मे उतार सकने की आध्यत्मिक क्षमता को कला कहते है। कला कोई विद्या या कारीगरी नही है। सङ्गीत, कविता, नृत्य, वाद्य, गायन, सज्जा, चित्रकारी, मूर्ति निर्माण आदि तो उसे विकसित करने के माध्यम मात्र है। कला का प्राण है—अध्यात्म ; वह दृष्टिकोण जिसके द्वारा पदार्थो के बीच छिपे हुए स्रष्टा के सौंदर्य को खोज निकालने में हम सफल होते है।

कला मे जो रस है वह ईश्वर दर्शन के आनन्द की एक हलकीसी झाकी है। कला का उद्देश्य यही है कि मनुष्य अपने चारो ओर बिखरे हुए--जड़ चेतन में

ओत प्रोत अनन्त सौन्दर्य की [illegible]
को जीवन दर्शन का उद्‌गम कहा [illegible]
पूछ रहित पशु कहा गया है।

'सुन्दरता' सबको प्रिय है। क्योंकि [illegible]
शिव है वही सुन्दर है आत्मा-परमात्मा [illegible]
कहा गया है। डाक्टर फ्रायड का कथन है कि [illegible]
कर बहादुरी की बाते बघारते है, क्योंकि वे अपने [illegible]
उसे छिपाने के लिए हर वक्त चिन्तित रहते है। [illegible]
हीनता का ही दूसरा रूप बढ़-बढ़ कर बाते करना है। [illegible]
लीपा पोती वास्तव मे कुरूपता के कारण होती है। एक स्त्री के [illegible]
उड़ गये थे वह फूलो की एक बड़ी बढ़िया माला [illegible]
रहती थी। एक आदमी के आगे के चार दाँत उखड़ गये थे [illegible]
मुँह बड़ा कुरूप लगने लगा इस कुरूपता को छिपाने के लिए उसने [illegible]
दाँत लगवाये एक काना आदमी हमेशा हरा चश्मा लगाये रहता था एक
चेचक की दागो वाली स्त्री बड़ा लम्बा घूँघट बनाती थी, अक्सर [illegible]
[illegible] मे गरीब लोग रगीन [illegible] अगरखी पहन कर जाते है, [illegible]
लोगो के गले मे बड़े बड़े मनको वाले सोने के कठे देखे जाते है। इन सब
बनावटो की तह मे अभाव की भावना छिपी रहती है। जिसमे सच्चा सौन्दर्य
होता है। वह अपने सच्चे [illegible] को छिपाता नही और न उसपर कुछ लीपा-
पोती करता है। सुन्दरता बाहरी वस्तुओ से बटोरी नही जा सकती, वह
[illegible] होती है। उसका सम्बन्ध आत्मा से होता है। हजारो [illegible]
[illegible] रत्नजटित पुष्प बनाया जाय, पर वह क्या एक विहँसित
[illegible] की समता कर सकता है?

[illegible] था, जिसने लिखे हर घड़ी रग रोगन की
[illegible] जाता है वैसा ही रहेगा, वह बदल

शाल्टी और ब्रुश कैंची तैयार रखनी पडे ? यदि आप सुन्दर बनना चाहते हैं' अपने मुख को गुलाब के फूल जैसा रखना चाहते हे तो उस उद्गम स्थान की तलाश करें, जहाँ से सौन्दर्य का अखड झरना झरता है। यह स्थान आत्मा है आत्मा का स्वाभाविक गुण सजीवता है, चेतन्यता, प्रफुल्लता और सुन्दरता है उसके ऊपर मलीनता के जो आवरण जम जाते है, वही कुरूपता के कारण हैं। छोटे बच्चे कितने सुन्दर लगते हैं' उनमें से मानो सौन्दर्य का प्रवाह फूटा पडता हो। फूल को देखने के लिये आँखे ललचा जाती है बच्चो को खिलाने के लिये मन ललचा उठता है। बालको की आत्मा पवित्र होती है,उस समय तक उनके ऊपर दुष्ट स्वभावों का आक्रमण नही हुआ होता। जैसे जैसे वे बडे होते जाते है और अन्त मे वृद्धावस्था के निकट पहुँचते पहुँचते जब उनकी स्थायी भूमिका परिपक्व हो जाती है, तो वह कठोर नीरस और कुरूप बन जाते है।

सद्विचार सुन्दरता की कुन्जी है' निस्सदेह जिसके विचार जितने पवित्र होगे वह उतना ही सुन्दर होगा। स्वास्थ्य और सौन्दर्य पर्यायवाची शब्द है, दोनो का एक अर्थ है जो स्वस्थ हे वही सुन्दर है, जो सुन्दर हैवही स्वस्थ है। यहाँ कुछ भ्रम भी रहता है' कई बार गोरीचमडी वाले कमजोर आदमी सुन्दर और साँवली जिल्द वाले स्वस्थ मनुष्य कुरूप कह दिये जाते है परन्तु यह दृष्टि दोष है। बहुत दिनो से जिस वस्तु को अच्छा खयाल करते रहते हैं वह अच्छी दिखाई देने लगती है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से उसमे दोष आता है। प्राचीन समय मे सुआ की चोंच जैसी नुकीली नाक सुन्दर समझी जाती थी और उसकी तारीफ मे बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु अब लम्बी नाक हम लोग पसन्द करते है, चीनी लोग चपटी नाक और अफ्रीका निवासी छोटी तथा चौडी नाक को सौन्दर्य मानते है मजनू की निगाह मे काली कलूटी लैला सौन्दर्य की अवतार थी और बापू (महात्मागाँधी)की दृष्टि मे बुढिया बा (कस्तूरबागाधी)सबसे सुन्दर स्त्री है। अलग-अलग पसन्दगियो के अनुसार ससार का कोई भी व्यक्ति सुन्दर नही हो सकता। हबशी लोगो की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी शायद हिन्दुस्तान के लोगो को बहुत बदशक्ल मालूम पडेगी। परन्तु इसमें उनकी सुन्दरता का कुछ दोष नही है, यह तो अपना-अपना दृष्टिकोण

नही सकता। और न ...
आदमी तन्दुरुस्त होगा ...
चाहे वह कभी ही ...
आदर होगा दुनिया ...

ग्रीष्मऋतु ...
और वर्षा काजल जमीन ...
अगणित बीज उमड पडते है ...
बिछ जाता है रग विरगे फूलो ...
उसके आगे स्वर्ण खचित और ...
को दिन रात जलाते रहने ...
पिछले पृष्ठो मे किया गया है ...
मिले, इस पर प्रेम के जल बिन्दु ...
हुए सद्गुणो के करोडो बीज ...
सौन्दर्य से इतना परिपूर्ण हो जयेगा कि
बिना नही रहेगा।

निस्वार्थ प्रेम एक दिव्य रस है। यह ... है। टीम टाम या रङ्ग रूप मे दूसरो को अपनी ओर ... आकर्षित करने मात्र का गुण है, किन्तु प्रेम दूसरो को खींच ... लेता है। जिसका हृदय सूखा नही है, स्वार्थपरता को छोड कर जो ... को प्रभुमय देखता है, समस्त सृष्टि को परमात्मा का समझ कर उसकी उपासना और आराधना करता है, उसके हृदय मे से आनन्द का अविरल स्रोत फूट पडेगा। बेचारे रोग, शोक उसके प्रवाह मे नही ठहर सकेगे, जैसे चीटी नदी को पार करने का साहस नही करती, उसी प्रकार कुरूपता देवी के शरीर मे घुस नही सकती। जिसके मन मे निस्वार्थ प्रेम है, उसके मन मे परमात्मा है, जहाँ परमात्मा का निवास होगा वहाँ भला कुरूपता किस प्रकार पहुँच सकेगी?

सौन्दर्य असल में प्रेम का ही एक प्रतिबिम्ब है, हम देखते हैं कि कितनी ही सुन्दरी स्त्रियाँ कुरूप पुरुषों से प्रेम करती हैं और कितने ही सुन्दर पुरुष कुरूप स्त्रियों से प्रेम करते हैं, दूसरे लोग उस जोडे को बडा 'बेमेल' बनाते हैं, परन्तु वे दोनों आपस मे बहुत ही सन्तुष्ट होते है। कारण यह है कि अपने मन मे जिस प्रकार के विचार हों, वे ही दूसरे के मन मे मिल जावें उनकी समानता हो जाय तो मनुष्य एक दूसरे को पसन्द कर लेते है। चाहे उनके स्वरूप मे कितना ही अन्तर क्यों न हो। इसके विपरीत यदि विचार नही मिलते तो रङ्ग—रूप अच्छा होने पर भी आकर्षण नही होता। बालू का एक कण सीपी के शरीर मे प्रवेश कर जाता है और सीपी उसे अपने मे आत्मसात् कर लेती है, तो वही बालू का कण एक दिन मोती के रूप मे प्रकट होता है। जब हमारे अन्तस्तल मे प्रेम के कण प्रवेश हो जाते हैं और उन्हे हम पूर्णत. आत्मसात् कर लेते हैं तो यही विचार कुछ दिन बाद मोती जैसे चमकते हुए सौन्दर्य के रूप मे प्रकट होते है।

विश्व को प्रेम दृष्टि से देखने के लिए उसमे सौन्दर्य की भावना करनी होगी क्यो कि हम स्वभावत. सुन्दरता को प्यार करते है। यह विश्व, परमात्मा का जीता जागता चित्र है और चित्र असल वस्तु से भी अधिक सुन्दर होता है। जैसे हमारे कमरो मे युद्ध के, वन्य पशुओ के, निर्जन जङ्गलों के, दु ख शोकमय घटनाओं के, चित्र टँगे रहते है परन्तु उस तरह के वास्तविक दृश्य सामने उपस्थित हों तो कोई पसन्द न करेगा। इससे प्रतीत होता है कि चित्र मे सौन्दर्य अधिक है। परमात्मा की जितनी महान् कल्पना कर सकते है, उन्ही सब सद्गुणों की कल्पना हमे संसार मे करनी चाहिये। जीवित वस्तुओ के स्वाभाविक गुण, दोष, नियम के अनुसार संसार मे अप्रिय कार्य भी होते हैं। परन्तु यदि हम उन्हे एक कलाकार की दृष्टि से देखे तो अप्रिय घटनाओ मे भी सौन्दर्य प्रतीत होगा। मनुष्य रूखी रोटी भी बडे प्रेम से खाता है, किन्तु दूसरे के लिए मिठाई भी स्वादहीन है। पतझड के दिनो मे जब पेड ठूँठ रह जाते है, तब भी एक भावुक हृदय उनमे सुन्दरता खोज निकलता है।

दुःखद परिस्थितियों में सुख को ढूंढ निकालना उसमें सुन्दरता को देखना एक सच्चे कलाकार का काम है। एक चतुर मिल मालिक फटे हुए चिथड़े इकट्ठे करके मँगवाता है, वह उनसे घृणा नहीं करता, वरन् शुद्ध स्वच्छ सफेद कागज की गाँठें तैयार कर देता है। अच्छा वकील कमजोर मुकदमे को भी जीतता है। अच्छा गुरु मन्द बुद्धि लड़कों को भी परीक्षा में पास कराता है। सच्चे कलाकार की परीक्षा के लिए, उसे यश देने के लिये ही परमात्मा ने दुःखद स्थितियों की रचना की है। जैसे अखाड़े में भारी-भारी मुग्दर इसलिये रखे जाते हैं कि उनका अभ्यास करके पहलवान् लोग अधिक बल प्राप्त करें। एक कहानी के अनुसार ईसाई धर्म पर विश्वास न करने के कारण दयानन्द और डार्विन घोर नर्क में भेजे गये, किन्तु कहते हैं कि उन्होंने अपने परिश्रम से नर्क को भी स्वर्ग बना लिया। सच्चा प्रेमी, सच्चा भक्त, [illegible]र्शी नहीं हो सकता, संसार को प्रभु की धरोहर [illegible]र पैदा होते देख कर चुप नहीं बैठ जाता वरन् [illegible]ता है। अपने परिश्रम से विष को अमृत बना देता [illegible] न तो बुरी समझता है और न किसी से घृणा [illegible]श्वास होता है। कि इनको सुधारना ईश्वर की ओर [illegible] एक चुनौती है। वह हर स्थिति को [illegible] पूर्वक अपना कर्तव्य पालन करता है।

[illegible] को बुझाने का प्रयत्न करे। काम, [illegible] फेंक दे। समस्त प्राणियों [illegible] प्रेम के [illegible] में सींचे [illegible] जिसका आनन्द राज [illegible] होगा। [illegible] चाहे कैसा ही काला [illegible] का बोझ बदला है [illegible] होगा।

सुन्दरता बढ़ाइए पर साथ ही आन्तरिक पवित्रता भी

अनेक आध्यात्मिक गुणो मे एक गुण सौन्दर्य और पवित्रता भी है। अपने आप को शुद्ध रखना तथा शृंगार प्रत्येक मनुष्य को प्रिय है। उसी प्रकार शुद्ध, शृङ्गारयुक्त दूसरे भी बडे प्रिय लगते है चाहे वह किसी अन्य जाति के ही क्यो न हो। गन्दे तथा फूहड व्यक्तियो के पास किसी को बैठने का भी जी नही करता। अपने प्रिय जनो की सन्तुष्टि के लिये या आत्म-तुष्टि के लिए ही क्यो न हो सजावट देख कर सभी का मन मुग्ध हो जाता है। शृङ्गार आत्मा का प्रिय विषय है, पवित्रता उसका प्रकाश है अत. इन्हे प्राप्त कर उसका सुखी होना स्वाभाविक ही है।

धर्म, जिस प्रकार मनुष्य मात्र की कल्याण और भलाई के व्यापक अर्थ मे लिया जाता है, सम्प्रदाय, या वर्ग विशेष की सङ्कीर्णता उसे अपवित्र करती है। उसी तरह अपना मैला शरीर शुद्ध कर लेना, या केवल स्वच्छ कपडे पहन लेना ही शुचिता और सौन्दर्य का अर्थ नही हैं। देह को साफ कर लेने का कार्य तो पशु पक्षी भी कर लेते है। सुन्दर शृङ्गार तो वेश्याये भी कर लेती है। तरह-तरह का वेषविन्यास बनाकर अनैतिक आचरण करने वालो के लिए तो शृंगार ही एक प्रकार का महामन्त्र है किन्तु यह वास्तविक शृङ्गार नही आत्मघात है। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार की शुद्धि एवं शृङ्गार कर लेना विरले प्रेमी सज्जनो को आता है। शृंगार लौकिक कामनाओ का पूरक नही आत्मिक सद्गुणो का परिष्कार है। शुद्धि का अर्थ बाह्य शुद्धि नही, आन्तरिक पवित्रता है।

महात्मा सुकरात की सूरत-शक्ल अच्छी नही थी पर उन्होने इसकी शिकायत कभी भी परमेश्वर से नही की। प्रार्थना किया करते थे 'प्रभो ! आप मुझे भीतर से सुन्दर बनादो।' उनकी आन्तरिक सुन्दरता से ही आकृष्ट होकर बरबस लोग उनकी ओर खिचे हुए चले आते थे। आत्मा के शृंगार मे सचमुच एक ऐसा अमृत निर्झर टपकता है जिसका मधुपान कर मनुष्य

का जीवन आनन्द विभोर हो जाता है। बाह्य गुण ... थोडा आकर्षण होता है किन्तु जिसने अन्त ... आभूषणो मे शृंगार करना सीख लिया उसका जीवन ... भीतर से स्वच्छ होते है उन्ही का बाह्य प्रकाश भीतर ... लोगो के नेत्र और हृदय दोनो को प्रकाशित कर देता है। ... दोनो से देवत्व की आभा प्रस्फुटित हो इसके लिए आन्तरिक ... आवश्यक है जितना बाह्य। दोनो के समन्वय से ही मनुष्य पवित्र बनता है।

शरीर के प्रत्येक अङ्ग को जल, मिट्टी साबुन आदि से ... रखना मनुष्य की बाह्य पवित्रता है। स्वच्छ और सुन्दर वस्त्र ... आभूषण यह भी बाह्य शृंगार मे आते है किन्तु आन्तरिक ... के अभाव मे यह शृंगार अधूरा है। मन, बुद्धि तथा अहङ्कार का भी उतना ही परि-मार्जन होना चाहिए। नेत्रो मे स्वाभाविक पवित्रता हो जिससे हम स्त्री-पुरुष को माता-पिता सुहृद-सुजन के रूप मे देख सके। नेत्रो मे फूटने वाली चपलता कामुकता अपवित्रता रहते हुए सारी बाह्य सफाई धोखा मात्र ही रह जायगी। उसी प्रकार शुद्ध और सरल वाणी का प्रयोग हो। जो सुने वह भी उतना ही पवित्र हो जितना कहने वाला। इस तरह बाह्याभ्यान्तरिक पवित्रता से ही मनुष्य के पवित्र जीवन का सूत्रपात होता है।

सन्ध्या वन्दनादि धार्मिक अनुष्ठानो का प्रथम मन्त्र है—

अपवित्रः पवित्रोवाऽसर्वावस्थागतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यान्तरः शुचिः॥

अर्थात्—अभी तक मेरी अपवित्र या पवित्र कोई भी अवस्था रही हो उस परमात्मा का स्मरण करने मे मै बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से पवित्र हो गया हूँ।

... मन्त्र मे दो बाते बताई गई है (१) पहली यह कि पर-मात्मा की उपासना के लिए पवित्रता अनिवार्य है। (२) वह पवित्रता

वाह्य भी हो और आन्तरिक भी। अशुद्ध वस्तुओं का त्याग करना और शुद्ध वस्तुओं को धारण करना यह मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी है। इसके विना वह आध्यात्मिक मार्ग पर एक पग भी आगे नही बढ सकता।

इससे आवश्यक हो जाता है कि मनुष्य अपने को वाहर और भीतर दोनों ओर से स्वच्छ और पवित्र रखे। शरीर की, वस्त्रो की घर की खान-पान तथा रहन सहन की शुद्धि मन की स्वस्थ अवस्था की द्योतक होती है। पर गन्दगी मन की अस्वस्थता को प्रकट करती है। इससे स्वास्थ्य की खरावी के साथ ही व्यवहारिक जीवन मे भी खरावी उत्पन्न होती है। किसी से सम्मान नहीं मिलता, कोई प्रेम नही करता, कोई मैत्री भी उन आदमियों से नही रखना चाहता जो वाह्य-शुद्धि पर ध्यान नही देते।

सौन्दर्य-प्रिय जिस तरह शरीर को शुद्ध रखकर उसका वस्त्राभूषण से शृंगार करते हैं उसी प्रकार अन्तरङ्ग जीवन को सद्गुणों, सद्भावों, सद्ज्ञान एवं आत्माभिमान से सजाया जाता है। वाहर और भीतर दोनो की शुद्धता पर प्रकाश डालते हुए स्वायम्भू मनु ने लिखा है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मन. सत्येन शुद्धयति।
विद्या तपोभ्या भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति॥

(मनुस्मृति ५। १०९)

अर्थात्—जल मे शरीर को, सत्य से मन को, विद्या और तपश्चर्या से आत्मा को तथा ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध वनाना ही सच्चा वाह्य और अन्तरङ्ग शृङ्गार है।"

मनुष्यो के स्वभाव को मलिन करने वाले राग, ईर्ष्या, अत्याचार, चिकीर्षा द्वेष और असूया ये छ प्रवल बुराइयाँ शास्त्रो मे वताई गई है, इनको शुद्ध किये विना आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन नही होते। वाह्य पवित्रता के लिये भी उसी तरह स्नान, शौच, वस्त्र आहार, आवास आदि की शुद्धता चाहिए। पहली आवश्यकतायें आत्मा के लिए है दूसरी शरीर के लिए। आत्मा और शरीर दोनो जव स्वच्छ, पवित्र और रसयुक्त वनते है तभी वास्तविक शृंगार के दर्शन होते है।

साँसारिक भोगों की दृष्टि से वाह्य स्वच्छ... ...है, किन्तु आध्यात्मिक शृंगार के बिना ... ...ही मिल पाता। मनुष्य का मन बड़ा चंचल ... ...कर मनुष्य राग-द्वेषादि कुप्रवृत्तियों में फंसा... ...पवित्रता के लिये ईश्वर आराधन, सत्पुरुषों... ...स्वाध्याय की बड़ी आवश्यकता होती है। पवित्र... ...वत होने लगता है। लौकिक वस्तुओं को ... ...ोध आदि द्वेष दुर्विकारों का त्याग ही अन्तरि... ...पने अन्तःकरण में श्रद्धा भक्ति, विवेक, सन्तोष, ...सहिष्णुता एवं अविचल प्रसन्नता का धारण क... ...केवल वाह्य शरीर के शृंगार पर ध्यान देना, ...परिचायक है। आत्म-ज्ञान के साधकों तथा श्रेय... ...रिक शृंगार की महत्ता अधिक है।

वाह्य सौन्दर्य की आवश्यकता आन्तरिक सौन्दर्य के साथ ... ...ही है। अन्यथा वह उच्छृङ्खल बन जायगा और ससारी मनुष्यों ... ...परतन्त्रता भोगी बनना पड़ेगा। इस स्थिति के कारण ही आज अधिकांश ... के शिकार हो रहे है। यहाँ वाह्य जीवन के शृंगार पर आक्षेप करने का कोई उद्देश्य नही है पर यह स्पष्ट है कि वाह्य शृंगार ही जीवन का उद्देश्य नहीं बन जाना चाहिये।

शृंगार और शुद्धि आत्मा के विकास के विषय है इसमे सन्देह नहीं है किन्तु अपना दृष्टिकोण एकागी न होना चाहिये। हमे सौन्दर्य के सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य की वाह्य पवित्रता मे आन्तरिक शुद्धता का महत्व कम नही है वरन् यह दोनो ही एक दूसरे की पूरक है। मनुष्य का जीवन इन दोनो मे उभयनिष्ठ होना चाहिये। तभी शृंगार की पूर्णता का आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द मनुष्य को मिल सकता है पर इसके लिए अपनी आत्मा को सद्गुणों एव सद्भावनाओ से ओत-प्रोत रखने की

उन्नत होती है। शुद्ध शरीर, स्वच्छ मन और सद्‌वित्त वृत्तियों के द्वारा ही यह संयोग प्राप्त किया जा सकता है।

सत्य का दर्शन

एक अनादि शक्ति, का जिसे हम अपनी भाषा मे ब्रह्म, सृष्टिकर्ता, परमात्मा, आदि विविध नामो से जानते है प्रकाश, उसका प्रेरणा ही जगत को सब ओर से प्रकाशित किये हुये है उसी से इस जगत और यहाँ के पदार्थों को हमारे ज्ञानक्षेत्र, कार्यक्षेत्र, सौंदर्य को स्फुरण मिल रहा है। वही अपने समग्र रूप मे सर्वत्र ही अवतीर्ण होता रहता सत्य रूप मे प्रतिष्ठित है। जगत् और उसके प्रेरक तत्व को जब हम एक करके देखते हैं तभी हमारे ध्यान की प्रक्रिया पूर्ण होती है। हमारे ध्यान-मन्त्र मे "ॐ भूर्भुव स्व" के उच्चारण से ही सृष्टि का बोध होने लगता है और अखिल ब्रह्माड के बीच जब उन्हे ही अपनी चेतना को, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा तारागण आदि को प्रकाशित करते देखते हैं तभी हम सत्य का दर्शन करते हैं।

जगत और अध्यात्म का जहाँ परिपूर्ण सामजस्य होता है वही सत्य की परिभाषा पूर्ण होती है। और यह सत्य जब हमारी जीवन यात्रा का आधार होता है तभी हम जगत और उसी प्रेरक शक्ति का परिचय प्राप्त कर कृतार्थ होते है। इसलिए सत्य ही जीवन का सहज दर्शन है। महात्मागाधी के शब्दो मे "सत्य हमारे जीवन का नियम है।" महर्षि व्यास ने सत्य को ही सर्वोपरि धर्म बतलाया है। "सत्य तत्व को जानकर ही ऋषिगण देवयान मार्ग से परमात्मा तक पहुँचते है।" महात्मागाँधी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "सृष्टि मे सत्य की ही एकमात्र सत्ता है। सत्य के ऊपर कोई ईश्वर नही सत्य स्वय ही ईश्वर की अभिव्यक्ति है।"

सत्यदर्शी विश्वामित्र ने सत्य की महिमा का बखान करते हुए कहा है—

सत्येनार्क प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी।
सत्य चोक्त परो धर्म. स्वर्गो सत्ये प्रतिष्ठितः॥

सत्य से ही सूर्य तप रहा है सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है। सत्य

सबसे बडा धर्म है। सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है … अन्य … ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन त…ते र…ि।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है सत्य से ही सूर्य तपता है सत्य से ही वायु बहता है। सब सत्य से ही स्थिर है।

स्मरण रहे अध्यात्ममय जगत् ही सत्य का आधार है। पूर्व और पश्चिम जैसे एक ही अखण्ड क्षितिज से स्थित है ठीक उसी तरह जगत और अध्यात्म दृश्य और अदृश्य सत्ता एक ही सत्य के दो पहलू है। इनमे से एक का भी परिहार करने पर हम सत्य के समक्ष अपराधी होते है।

जब हम जगत की समस्त घटनाओ को केवल बाह्य घटनाये समझते है तो उनसे हमे कोई आनन्द नही मिलता। वे घटनाये और हमारा जीवन केवल एक रूखी मशीनी प्रक्रिया मात्र बनकर रह जाता है। जिस तरह पटरी पर रेल, सडक पर मोटर, शिलाखण्डो पर नदी की धारा बहती है उसी तरह हमारे मन-पाषाण पर जगत की धारा बहती रहती है। चित्त पर उनका कोई प्रभाव नही होता। सब कुछ निर्जीव नीरस अरुचिकर व्यापार-सा लगता है। और तब हम कृत्रिम उपायो, व्यसनो द्वारा नाना वृथाकर्मो द्वारा आमोद प्राप्त करने का प्रयत्न करते है लेकिन फिर भी हमारी जीवन यात्रा एक बोझा-सी मालूम पडती है।

जब हम केवल जगत् को यहाँ की घटनाओ को, ही देखते है तो हमे जीवन मे कोई रस नही मिलता न उत्साह स्फूर्तिमय प्रेरणा ही। कुछ समय तक तो वे हमारे मन, इन्द्रियो को लुभाये रहते है किन्तु शीघ्र ही इनसे विरक्ति होने लगती है और फिर अपने स्वभाव के अनुसार अन्य पदार्थो मे … … है और एक समय वहाँ से भी हमे हटना पडता है। … … है कि हम वस्तु से वस्तु, पदार्थ से पदार्थ, घटना से घटनाओ मे … … रहते है लेकिन इन सबसे हमारी चेतना को कही भी … … नही होती।

हमारी पदार्थवादी जगत प्रधान दृष्टि के कारण सूर्य के उगने मे, नदी के कल-कल वहने मे, पक्षियो के गुञ्जन मे वृक्षो के फलने फूलने मे भी कोई विशेष प्रेरणा नही मिलती और हम यत्र-तत्र भटकते रहते है प्रतिदिन कही कुछ सहारा पाने को जहाँ हमारी चेतना को स्फुरण मन को आनन्द की प्रेरणा प्राप्त हो सके। लेकिन असत्य की छाया मे सुख शाति कहाँ ? उल्टे ये सब हमारे लिये दु ख, प्रद, कष्टदायी, क्लेशपूर्ण ही सिद्ध होते है।

इसी तरह ही हमारा अभ्यास कुछ ऐसा हो गया है कि अध्यात्म को भी हम एकाङ्गी दृष्टि से देखते है। जगत की सीढ़ियाँ जिन पर चढकर सत्य दर्शन की यात्रा पूरी करते है उनकी ओर हमारा ध्यान ही नही जाता। और जिस तरह विना सीढी के छत पर पहुँचना सम्भव नही होता ठीक उसी तरह जगत को भुलाकर हमारे सत्य-दर्शन के प्रयास व्यर्थ सिद्ध होते है। जगत के साथ रहने मे ही अध्यात्म की भी सार्थकता है अन्यथा वह एक कपोल-कल्पना, मूढ विश्वास मात्र बनकर रह जाता है।

इस तरह असत्य का आचरण जिसके अन्तर्गत हम जगत और अध्यात्म को अलग-अलग करके देखते है हमारे पतन का हमारी असफलता का कारण वनता है। जगत को, वस्तु पदार्थ के सृष्टि कर्त्ता को जव हम भिन्न-भिन्न, खड-खड करके देखते है तो सत्य से दूर होते है।

सत्य की साधना के लिये, सत्य का दर्शन करने के लिये, हमे जगत और अध्यात्म को, सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता को, वस्तु पदार्थ और इनको प्रकाशित करने वाली विश्व-चेतना को समग्र रूप से जानना, समझना और देखना पड़ेगा। एव इसे ही अपने चिन्तन का आधार बनाना पडेगा।

जब हम इस सत्य को आत्मसात कर लेगे तो हमारी चेतना परितृप्त हो जायगी क्योकि "सत्य चिर-नवीन है, उसका रस अक्षय है"। जगत के बीच, वस्तु पदार्थ, समस्त घटनावली के मध्य जव हम सृष्टिकर्ता के अन्ततम स्वरूप का दर्शन करने लगते है तभी हमारी दृष्टि सार्थक होती है। फिर हमारा जीवन और समस्त जगत ही आनन्द विस्मय, महत्व और सार्थकता से परिपूर्ण हो जाता है। तव हमे नदी के बहने मे, पक्षियो के गुञ्जन मे, वृक्ष लताओ

के फूलने फलने मे, मेघो के गर्जन-तर्जन मे, समुद्र की उत्ताल तरङ्गो मे आनन्द झरता सौंदर्य, आह्लाद' का मधुर सङ्गीत सुनाई पडने लगता है।

जीवन के परम सत्य का दर्शन होने पर जब हम विश्व-व्यापार, समस्त घटनापुञ्ज के मध्य जो मूल शक्ति है उसका दर्शन करते है तो जगत आवरण न रहकर उसी सत्य को प्रकाश किरणो के रूप मे जो प्रति मूहूर्त उनमे विकीर्ण होती रहती है जान पडता है। और तब यह बन्धन न रहकर हमारे आनन्द का साधन बन जाता है।

सत्य और उसको प्रकाशित करने वाली सत्ता का समग्र-दर्शन ही हमारे ज्ञान चिन्तन का आधार होना चाहिये। घटना-पदार्थों के मध्य भी उस सत्य का दर्शन हमारे जीवन का ध्येय, हमारी भावना का लक्ष्य हो।

"सत्येन उत्तभिता भूमि"—"धरती सत्य पर टिकी है"

संस्थाओ का निर्माण करता है जहाँ वह विश्वासपूर्वक एक दूसरे से व्यक्त होकर अपने आपको बोझिल होने से बचा लेता है।

किसी न किसी अंश मे सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा जमी होने पर ही यह ससार स्थिर है ऐसा शास्त्रकार का कथन है । और अपनी इसी उक्ति मे उसने एक महत्वपूर्ण जीवन दर्शन —सत्य की आवश्यकता भी प्रतिपादित कर दी है—सत्य हर व्यक्ति के जीवन का मूल-मन्त्र होना चाहिये । हरिश्चन्द्र सत्यकाम जबाला और गांधी जैसी पूर्ण सत्यनिष्ठा न हो तो भी उसे सत्य— के परिपालन मे इतना तो दृढ होना ही चाहिये कि अपने द्वारा किसी अन्य प्राणी का किंचित मात्र अहित न हो।

मनीषी का कथन है—

साँच बराबर तप नही, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप ॥

अर्थात्—सत्य सभी तपो का तप है, झूठ से बढकर दूसरा पाप नही, जिसके हृदय मे सत्य है उसके हृदय मे परमात्मा विराजता है।

शून्य आकाश मे अनन्त अन्तरिक्ष के अनादि नक्षत्रो का प्रकाश एक बिन्दु पर टकराता है बाहर खडा व्यक्ति प्रकाश-कणो के द्वन्द्व को देखकर यह पता नही लगा सकता कि कौन प्रकाश किस नक्षत्र से आ रहा है। किन्तु यदि वह इन प्रकाश कणो की बौछार के मध्य उस बिन्दु को प्राप्त करले जहाँ हर अगान्तुक कण टकराता हो तो उस मूल बिन्दु से चारो ओर देखते रह सकना तथा प्रकाश के द्वारा ग्रह-नक्षत्रो की अन्तर्दशा का पता लगाना भी सम्भव हो जाता है। सत्य भी एक ऐसा ही दिव्य प्रकाश और मूल बिन्दु है जिसे पकडने और धारण करने वाला व्यक्ति ससार की प्रत्येक वस्तु स्थिति का परिपूर्ण एव आशका रहित ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सत्य जीवन की एक ऐसी अवस्था है जहाँ स्थित होकर अपने आस-पास के सम्पूर्ण वातावरण का सम्यक और यथार्थ अध्ययन किया जा सकता है। क्योकिजब कोई व्यक्ति सत्य बोलने सत्य व्यवहार करने का व्रत लेता है तो दुनियाँ भर की अहताये उससे टकराती है। कीचड़ मे फँसा हुआ बीज अपने

आपको कीचड मे अधिक नहीं ...
वित होकर अपने आपको अपनी ...
उस कीचड के प्रभाव से बच जाता ...
विभूतियो का अपने लिये अर्जन करके ...
जित उपलब्धियाँ ही ... ...
निन्दा हो रही थी वहाँ उनमे से ...

ससार माया, मोह, काम और क्रोध ...
है जहाँ हर व्यक्ति अपना स्वार्थ अपनी ...
परिस्थितियो मे जीवन और विश्व ...
है पर यदि कोई सत्य का आश्रय ले लेता है ...
आत्मा के मूल बिन्दु पर स्थिर होकर ...
प्रकार समझा हुआ यह सत्य ही स्वर्ग और ...

सत्य—केवल सम्भाषण तक सीमित नहीं ...
विशाल है। बोले सत्य, साथ ही दूसरो को भी ...
सत्यता हो पर यह भी ध्यान रहे कि उस सत्य मे ...
के प्रति सत्य की अभिव्यक्ति मे साहस और दृढता हो ... अपने सत्य को
प्रस्तुत करते समय भी चित्त डॉवाडोल न हो। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ...
गई ईमानदारी ही सार्वभौमिक सत्य है केवल ऐसा सत्य ही हमे विश्व के
यथार्थ की अनुभूति करा सकता है।

उदाहरणार्थ गाधीजी ने सत्य को अपना जीवन मन्त्र बनाया था उन्होंने कुछ प्रतिज्ञा की थी—अहिंसा का व्रत पालन करूँगा, निर्धन देश की सेवा करते समय निर्धन बन कर रहूँगा। दोनो प्रतिज्ञाये कदम-कदम पर परीक्षा लेती। एक बार गाँधीजी खेडा से एक गाँव जा रहे थे। यात्रा बैलगाडी मे हो रही थी। जिस गाडी में गाँधीजी बैठे थे उसे एक किसान हाँक रहा था किसान ने डण्डे मे लोहे की कील चुभा रखी थी, वह बार-बार कील बैलो की पीठ पर चुभा देता था जिससे बैल थोडा तेज चलने लगते थे। गाधी की दृष्टि एकाएक इधर पड गई। बैलो की पीठ पर रक्त बह भी उनके निमित्त उनकी प्रतिज्ञा

की सत्यता की कसौटी गांधीजी तुरन्त बैलगाड़ी से उतर पडे और फिर खेडा तक पैदल गये।

उन्हे १०३·५ डिगरी बुखार था। इलाज के लिये साराभाई की कोठी पर ले जाया गया। बेहोशी टूटी तो उन्होने देखा मै सत्याग्रह आश्रम मे नही हूं। उन्होंने इतनी बीमारी मे भी जीवन की परवाह न करके साराभाई की कोठी छोड दी और अपने आश्रम मे आ गये। वाणी और व्यवहार के इस सत्य ने ही गाधीजी को विश्व प्रतिष्ठा का अधिकारी बनाया। आज सारी दुनिया गाधीजी-नही-उनकी इस सत्यनिष्ठा को नमन करती है सत्यवादी व्यक्ति भीतर और बाहर एक समान होता है इसलिये उसकी शक्ति की थाह पा सकना किसी के लिये भी सम्भव नही होता। जब तक इस सत्य का एक भी कण जिन्दा है यह पृथ्वी तभी तक स्थिर है मनुष्य जाति ने यदि सत्य का पल्ला छोड दिया तो वह अपने आप ही सत्यानाश की विभीषिका मे जलकर अपना अन्त कर लेगा। हमे दम्भ और कपट का नही सत्य का आचरण करना चाहिये इसी मे ससार की शोभा है।

वैराग्य भावना से मनोविकारों का शमन

मनुष्य के मस्तिष्क की रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि उसमे जिस प्रकार के विचार आयेंगे वैसा ही आचरण और शरीर पर प्रभाव पडेगा। विचार-भावना के अनुरूप ही मनुष्य का निर्माण होता है, विचार शक्ति के द्वारा ही उसके जीवन मे उतार चढाव और परिवर्तन होते हैं। अच्छे विचारो से बुरे विचारों को दबाया जा सकता है। इस प्रकार यह मनुष्य की विशेषता है कि वह जैसा जीवन निर्मित करना चाहे अपने विचार, अपनी भावनाओ के परिष्कार द्वारा वैसा ही कर सकता है।

वैराग्य भावना मे निस्सदेह बडी शक्ति है बुरे से बुरे सस्कार वैराग्य के बादलों से धुलते देखे गये है। कामासक्त तुलसीदास, दुष्ट दुराचारी वाल्मीक हिंसक व्याध और अंगुलिमाल जैसे व्यक्तियो के हृदय मे जब वैराग्य भावना का प्रवाह उमड़ा तो उनके जीवन की धारायें ही बदल गई। सारे के सारे सन्त, महात्मा और महान् पण्डित बन गये।

विचार, भाव तथा क्रिया मे अत्यन्त सूक्ष्म ग्रहणशीलता रखते हुये सांसारिक विषयो के प्रति निरपेक्ष बने रहने का नाम वैराग्य है। संक्षेप मे राग द्वेष के बन्धनो से मुक्त होना ही वैराग्य है। यह भी कह सकते हैं कि वैराग्य उस अवस्था या स्थिति का नाम है जब मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ विभिन्न भावो से हटकर चिर सत्य की ओर जाग्रत हो। इन भावनाओ की शक्ति और सामर्थ्य की थाह पाना निश्चय ही कठिन बात है क्योंकि जिस किसी के जीवन मे भी इन भावनाओ का उदय हुआ उनका तीव्र विरोध, उपहास और सांसारिक विषय विकार कुछ कर नही पाये। षट-विकारो के शमन का भी श्रेष्ठ उपाय वैराग्य भावनाओ को ही मान सकते हैं। वैराग्य द्वारा ही सात्विक कार्य सम्पन्न होते है। वैराग्य का अर्थ है त्याग समर्पण, विवेक और सत्य के प्रति श्रद्धा की अनन्य भावना। इस प्रकार वैराग्य मे वह सम्पूर्ण सत्क्रिया सन्निहित है जिनसे मनुष्य अपने जीवन मे सन्तुलन बनाये रह सकता।

जब कभी ऐसी अवस्था आये तो आप वैराग्य भावना का सहारा लीजिये। आप कल्पना कीजिये कि जिस स्त्री के हाव भाव और अङ्ग प्रत्यङ्गो को देखने से आप की कामुकता जाग्रत हो रही है, वह इस समय मर चुकी है ! यह उसकी लाश है जो आपके सामने खडी है। अभी चील कौवे और सियार आते है और इस शरीर को वे अपना भोजन मानकर उसे चीथने फाड़ने का काम शुरु कर देते हैं। छि यह क्या, मांस, हड्डियाँ, आँतो मे जमा हुआ मल मूत्र—क्या इसी सबके लिये मेरी वासना जाग्रत हुई है। क्या इन हाड मांस के ऊपर चढी हुई सुनहली पन्नी के ऊपर हम अपनी शक्ति, और ओज समाप्त कर देंगे।

आप जितना भावनात्मक गहराई तक उतर सके, उतरे आपको यथार्थ ज्ञान मिलेगा, शक्ति मिलेगी और इस दूषित विकार के आघात से बडी आसानी के साथ बच जायेंगे। शरीर की नश्वरता और आत्म-ज्ञान की प्रबल जिज्ञासा का भाव जितनी शक्ति और क्षमता के साथ आप उठायेंगे उतना ही वैराग्य भाव उमडता हुआ चला आयेगा। "मैं अपने जीवन को इन तुच्छ बातो मे नही गँवाऊँगा, न जाने कब विनष्ट हो जाने वाले शरीर के प्रति मै भला क्यो आशक्त होऊँ, मैं आत्मा हूँ, अपने मूल स्वरूप को जानना ही मेरा लक्ष्य है।" इस प्रकार के अनेको विचार आप तर्क और प्रमाण के साथ उठाते चले आइये निश्चय ही आपकी कामुकताका आवेग आप को छोडकर भाग जायेगा आपके जी मे "मातृवत परदारेषु" का सुन्दर भाव उमडता हुआ चला आयेगा, आप आन्तरिक दृष्टि से आनन्दित हो उठेंगे और जो विचार अभी थोडी देर पहले आप को आक्रान्त कर रहा था वह न जाने कहाँ विलुप्त हो जायेगा।

वासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन मे आँधी तूफान की तरह होता है, इससे बचने के लिये सिनेमा, नाटक, अभद्र प्रदर्शनो से तो बचे ही, बुद्धि विवेक और सद्विचार भी ठीक रखें और इसे वैराग्य पूर्ण भावनाओ के द्वारा भी निवारण करें।

क्रोध की अवस्था भी ठीक ऐसी ही होती है। संसार में ऐसा कोई भी पाप नहीं जो क्रोधी व्यक्ति न कर सकता हो। क्रोध को पाप का मूल कह कर पुकारा जाता है। यह भी एक आवेग में आता है और अनेकों अनर्थ उत्पन्न करके ही समाप्त होता है पीछे उन पर भारी दुःख तथा पश्चात्ताप होता है। इससे बचने के पूर्व अभ्यास के रूप में प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, सौजन्य [illegible] और उदारता आदि भावों को विकसित करें तो ठीक है किन्तु यदि फिर भी कदाचित् ऐसा अवसर आ जाये तो आप पुनः वैराग्य पूर्ण [illegible] कीजिये। आप विचार कीजिये आप जिसे दण्ड देना [illegible] जिस पर आप को क्रोध आ रहा है वह यदि आप होते तो आप पर [illegible]। [illegible] कीजिये अपने ही वह गलती कर डाली होती और कोई [illegible] दिया जा रहा होता तो आप के शरीर में कितनी पीड़ा [illegible]। यह भाव उठते ही आप के हृदय में करुणा का [illegible] कि दण्ड देना अनुचित है। दूसरों को पीड़ा [illegible] और पराभूत हो जायगा और आप उसके [illegible] भी प्रतिरोध-जनक प्रतिक्रिया उठने से

पाप की कमाई अपने बाल बच्चो के लिये छोड़कर उन्हे भी आलसी और अकर्मण्य बनाना चाहते हैं। जो धन आपकी लाश के साथ आपके साथ जाने वाला नही है उसको आप अनाधिकार पूर्वक क्यो प्राप्त करना चाहते हैं? आप उससे बंधे क्यो जा रहे है। इस धन के लोभ मे पडकर आप अपनी आत्मा अपने जीवन लक्ष्य की बात ही भूल जायँगे फिर ऐसे धन से लोभ कैसा? प्रीति कैसी? छोडिए इसे। जो कुछ परिश्रम से कमाया है उतने मे ही बडा आनन्द है। धन का बखेडा बढाने की अपेक्षा निर्धन होना, आत्म-धन प्राप्त करना कहीं अधिक श्रेष्ठ व श्रेयस्कर है। हम कभी इस परम आदर्श से विचलित नही होंगे। इस प्रकार आप अधर्म की कमाई और अनावश्यक लोभ वृत्ति से निकल सकेंगे।

मनुष्य की सबसे अधिक दीन हीन अवस्था उस समय दिखाई देती है जब वह छोटी-छोटी बातो के लिये अनुचित आसक्ति या मोह भाव प्रदर्शित करता है। छोटी-सी चीज के टूट-फूट जाने से आप कितने परेशान हो उठते हैं। टूटे–फूटे बर्तन कपडों और अनेको अनावश्यक वस्तुओ से आपका इतना अधिक लगाव आखिर क्यो है। संसार की सभी सम्पत्तियो मे शरीर का महत्व ही सर्वाधिक है इसी से उपभोग करते हैं और स्वामित्व प्रकट करते हैं इसका भी तो एक दिन विनाश हो जाता है। जिसके उपभोग और स्वामित्व के लिए आप यह मोह कर रहे हैं जब उसी को नही रहना तो क्या करेंगे आप इन नाचीज वस्तुओ का संग्रह करके। इनके टूट-फूट जाने, सडने गलने से आप इतना दुःखी क्यो हो जाते हैं? दुःख करना ही है तो सोचिये अपने अभी तक मानव सुलभ साधनो का आत्म-विकास मे कितना उपयोग किया? अपने जीवन लक्ष्य की ओर आप कितना बढ सके हैं? क्या आप अपने आपको पहचान सके है? नकारात्मक उत्तर मिलने से आपका जी दुःखी होगा। जिस प्रकार अब तक हजारो आदमी इस संसार मे मर-खप गये उसी प्रकार हमारा भी शरीर-साधन व्यर्थ गया तो कहाँ रही इसमे अपनी बुद्धिमत्ता। आप की सफलता इसी मे सन्निहित है कि आप अनुचित और छोटी-छोटी वस्तुओ

के प्रति मोह का भाव त्यागिए ताकि आपकी शक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख हो सके।

मनुष्य के विनाश का सबसे प्रबल कारण है उसका "अहङ्कार"। "मै ही सब कुछ हूँ", "मेरा विचार ही सबसे, अच्छा है", मै ही सबसे अधिक सुन्दर हूँ, मै धनी हूँ, मै पण्डित हूँ आदि अहङ्कारिक भावो के कारण संसार मे कलह, झझट युद्ध और युद्ध की विभीषिकाये उठ खडी होती है। क्या यह अभिमान सार्थक हो सकता है? नही। रावण, दुर्योधन, कंस हिरणाकश्यप, नैपोलियन, सिकन्दर आदि अहंकारी पुरुषो ने आखिर क्या लाभ उठाया। उन्हे भी हाथ मलते ही इस संसार से विदा होना पडा, फिर आपकी क्या भला बिसात! आप से अधिक तो इसी धरती मे ही अनेको रूपवान, धनवान् शक्ति और समार्थ्यवान्, विद्यमान् है फिर यह अहङ्कार आपका क्या प्रयोजन हल कर सकता है। आध्यात्मिक विकास की सबसे बडी बाधा मनुष्य के अह-ङ्कारपूर्ण विचार ही होते है। संसार की क्षणभंगुरता को हमेशा ध्यान मे बनाये रखने से ही यह संभव है कि मनुष्य इस दुष्प्रवृत्ति से बचा रह सके।

इसी प्रकार मत्सर अर्थात् ईर्ष्या और डाह का भाव भी मनुष्य के अधःपतन का कारण होता है। मनुष्य की उन्नति उसकी शक्ति और परिस्थितियो के अनुसार कम ज्यादा होती ही है अपनी शक्तियो का विकास मानवोचित ढंग से करे तो इसमे किसी का अहित नही होता पर जब दूसरो की समृद्धि देखकर लोग ईर्ष्या-द्वेष रखने लगते है तो वही वैयक्तिक और सामूहिक आत्मिक पतन प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य का जीवन इसलिए नही मिला। हमे सेवा, सत्कार, प्रेम, दया, न्याय आदि के विकास के लिये साधन स्वरूप यह शरीर उपलब्ध होता है। इसे प्राप्त कर होड करे चारित्रिक श्रेष्ठता की, ताकि अपना जीवन [illegible] भी पूरा हो, लोगो को प्रसन्नता मिले और सामाजिक जीवन मे खुश-हाली लाने मे अपना कुछ उपयोग हो। यदि यह न कर सके तो मनुष्य शरीर और पशुओं की योनि मे अन्तर ही क्या रहा।

[illegible] पराकाष्ठा को पहुँचना है और इसी अवस्था मे वैराग्य

द्वारा उसका सन्तुलन होता है। इस लिये पट विकारो के शमन और आध्यात्मिक आस्था प्रखर करने के लिये वैराग्य पूर्ण भावनाये वडी उपयोगी सिद्ध होती हैं। वैराग्य से मनुष्य का जीवन उन्नत होता है और अनेको आध्यामिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

वैराग्य से सत्य सिद्धि

सद्‌गुणो से—पवित्र आचार-विचार से—वैसे ही सुख-शाति और सहयोग पूर्ण भावनाओ एव परिस्थितियो का विस्तार होता है। सङ्कल्प, स्वाध्याय सत्सग आदि गुणो के विकास के साधन वताये गये हैं किंतु जिस तरह दुर्गुणो का मूल कारण अनियन्त्रित महत्वाकाक्षाये होती है वैसे ही सद्‌गुणो का भी मूल वैराग्य है। शास्त्रकार का कथन है—

यम्यास्ति भक्तिर्भगवह्यकिञ्चनासर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

अकिञ्चना भक्ति—अर्थात् वैराग्य जहाँ है वहाँ समस्त सद्‌गुण विराजते हैं।

वैराग्य ऐसी निर्मल भावना है जो मनुष्य के मन को पक्षपात पूर्ण विचारो से वचाती है। चाहे वह अपने लिये हो, समीपस्थ सम्वन्धी अथवा किसी पडोसी के लिये हो। अपनी त्रुटि दोष और कमजोरियो पर तो वह कडाई से नियन्त्रण करता ही है साथ ही वह उन सभी बुराइयो के विरोध मे सहयोग करता है जो परमात्मा के मंगलमय विधान मे विघ्न वाधा डालते है। इससे भलाई की शक्ति का विकास और परिवर्तन ही होता है।

विचारो की निर्मलता से दुरित दुर्गुणो का निवारण ही नही होता वरन् जिस तरह पतझड़ के वाद पेडो-पौधो मे नई कोपले फूट उठती हैं, चैत्र की नव रात्रियो के पास जिस तरह कोपल प्रकृति नये-नये परिधान मे निखरती है वैसे ही मस्तिष्क मे भी वैराग्य की भावना आने से नई-नई कोमल भावनाओका विकास होता है सद्गुणो का परिपाक इसी क्रम मे होता है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने इसी वात को इन चौपाइयो मे व्यक्ति किया है—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाई । जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढइ नित नई । बिषय आस दुर्बलता गई ॥

अर्थात्—जब हृदय मे वैराग्य बल प्रस्फुटित होता है तो मन मे विवेक का जन्म होता है। अन्त करण मे सौमनस की भूख प्रदीप्त हो उठती है जिससे मन मे विषयो की ओर भटकने की जो दुर्बलता थी वह दूर होने लगती है।

गीता मे मनोनिग्रह का मुख्य आधार वैराग्य को बताते हुए—भगवान कृष्ण कहते हैं—"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" योग दर्शन मे—"अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोधा" कह कर उपर्युक्त कथन की पुष्टि करदी। दरअसल स्वाभाविक दुर्बलता तब तक छूटती भी नही जब तक आत्मा के प्रति कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा और ससार की निस्सारता का भाव मन मे प्रकट नही होता है।

शास्त्र कहते है कि सिद्धियाँ और सफलताये तो वैराग्य शील व्यक्ति की चरणदासी होती है। आत्मविजय, मनोजय, राजनैतिक सफलताये आध्यात्मिक प्रगति और सासारिक सुख जिनकी प्रत्येक युग मे आवश्यकता होती है वह वैराग्य वाले मनुष्य को स्वयमेव आवश्यकतानुसार मिलती रहती है। महाभारत मे वैराग्य को सम्पूर्ण सिद्धियो का साधन बताते हुये लिखा है—

यच्च भूत भविष्यय च भवच्च परम द्युते ।
तत्सर्व मनुपश्यामि पाणौ फल चिकीर्षिताम् ॥

शाँ० प० ५४ । १

इसके अर्थ मे रामायण की यह पक्तियाँ प्रयुक्त है—

जानहि तीन काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना ॥

—वह व्यक्ति जिनके हृदय मे वैराग्य बसता है यह जानता है हम भूत मे क्या थे भविष्य मे क्या होगे। सम्पूर्ण सिद्धियाँ उनकी हथेलियो पर होती है।

वैराग्य के अभ्यास की एक ही साधना है जगत के मिथ्यात्व को अनुभव करना, चिन्तन करना। भावनाओं मे इतना उभार पैदा कर लेना कि न अहं भाव रहे, न मृत्यु न मान-अपमान, शोक-वियोग का विकार। संपूर्ण कालो मे व्याप्त आत्मा दिखाई दे। मैं अजर हूँ, अमर हूँ अक्षय, अविनाशी परम प्रकाश हूँ इस धारणा की पूर्ण पुष्टि वैराग्य कहा जाता है। सांसारिकता का मोह नष्ट हो जाये वही वैराग्य है।

वैराग्य के विकास के तरीके कई विचारकों ने कई तरह से व्यक्त किये हैं, उन सबका तात्पर्य एक ही है संसार के स्थूल पदार्थों के चिन्तन से मन को विरत कर भावनाओं मे लगा देना—एक कवि कहता है —

मुट्ठी बाँधे आया जग मे, हाथ पसारे जायेगा।

विनय पत्रिका यों कहती है—

सहसबाहु दस वदन आदिनृप, बचे न काल बली ते।
हम हम कहि धन धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते।
सुत वनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अंहुत तोहिं तजैंगे पामर, तू न तजै अब ही ते।

—चर्पट पंजरिका मे जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य ने संसार की निस्सारता को यों व्यक्त किया है—

दिनमपि रजनी साय प्रात. शिशिर वसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायु।
भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते॥

—बार-बार दिन, सायङ्काल रात्रि आती है और देखते-देखते चली जाती है इस प्रकार काल की क्रीडा निरन्तर होती रहती है प्राणियों की आयु इस तरह क्षीण होता जा रही है। ऐ मन! इसलिये क्षण भंगुर संसार मे आशाओं की वायु का परित्याग कर परमात्मा को जान।

ऐसे अवसर पर नानक भला कैसे चुप रहते। वे लिखते हैं—

आयु गवाई दुनियाँ मे दुनियाँ चले न साथ।
पैर कुल्हाडी मारिया मूरख ने अपने हाथ ॥

सबका अर्थ ससार के भौतिक सुखो को नगण्य सिद्ध कर पारलौकिक जीवन के लिए आत्म सुधार करना ही है। किसी शायर ने इसे बडे सुन्दर शब्दो मे कहा है—

है बहारे बाग दुनियाँ चन्द रोज। देख लो इसका तमाशा चन्द रोज।
ऐ मुसाफिर कूँच का सामान कर। है बसेरा इस सरा मे चन्द रोज ॥

इस ससार के सुख, तमाशे थोडी अवधि के लिये है। न जाने कब शरीर विनष्ट हो जाय और इस दुनिया को छोड कर चल देना पडे। इन परिस्थितियो को गम्भीरता पूर्वक अनुभव करना चाहिए इससे हमारे सामने एक ऐसे शुभ्र जीवन का विकास होने लगेगा जिसमे कटुता, कलह और वैमनस्य न होगा इस लिये अशान्ति न होगी। भोग न होंगे इसलिये रोगो से छुटकारा मिलेगा, कोई पराया न होगा, किसी के साथ भेदभाव, ऊँच-नीच, कम-ज्यादा का भाव न होगा इस लिये सघर्ष न होगा। वैराग्य को इसलिये सम्पूर्ण सद्‌गुणो के विकास का मूल कहा गया है। ऊपर की पक्तियो का मनन-चिन्तन और इन्हे गुनगुनाते रहने से इसी मूल-भावना की दिन दिन पुष्टि भी की जा सकती है। जीवन लक्ष्य प्राप्ति की आवश्यकता तो इससे स्वयमेव फलित होती है। "व्यास भाष्य" मे बताया गया।

"...कथमहमास किस्विदिदकथ स्विदिद के वा भविष्याम ... वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्त परात मध्ये स्वात्म भाव जिज्ञासा स्वरूप ... एता तमस्येर्ये सिद्धय ।"

...को, जिन्होने ससार के विषय सुख, राग, मोह, मदादि ... मै कौन था कैसे था ? वर्तमान शरीर क्या है ? ... ऊँगा ? कैसे रहूँगा ? इन सब बातो का स्पष्ट ज्ञान

शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार ही मनुष्य की शोभा है।

शील एवं शिष्टता मनुष्य के मानसिक-विकास के परिचायक गुण है। जिस अनुपात से मनुष्य का मानसिक-विकास होता जाता है उसी अनुपात से वह पशुता से उठ कर मनुष्यता की ओर बढता जाता है। इस प्रकार, एक दिन, वह शनैः शनैः बढता हुआ अपने आत्म-स्वरूप तक पहुँच कर चिरन्तन सुख शान्ति का अधिकारी बन जाता है।

आत्म-स्वरूप की उपलब्धि सहसा नही होती। यह धीरे-धीरे क्रम-पूर्वक मानसिक विकास द्वारा ही संभव होती है। शील एव शिष्टता मनुष्य के मानसिक विकास के लक्षण है। इन्ही लक्षणो द्वारा मनुष्य यह जान सकता है कि उसने कितना मानसिक विकास कर लिया है। जब कोई प्रत्येक क्षण प्रत्येक व्यक्ति के साथ यथायोग्य शीलता एव शिष्टता का व्यवहार करने लगे तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसका मानसिक विकास होना प्रारम्भ हो गया है। जिस दिन यह व्यवहार औरो के साथ रहने के अतिरिक्त अपनी आत्मा और आत्मा से बढकर समस्त जड चेतन के साथ होने लगे तो समझ लेना चाहिये कि अब हम आत्म-स्वरूप की परिधि के पास पहुचने लगे हैं।

मनोविकास का अर्थ है—मनोविकारो का दूर होना। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार जितनी मात्रा मे कम होते जाते हैं, उतनी ही मात्रा मे मनोविकास होता जाता है। दुःशीलता एव अशिष्टता के कारण भी ये मनोविकार ही है। काम मनुष्य को शील-रहित बना देता है। एक बार उसकी कामजन्य दुःशीलता अन्य किसी पर प्रकट नही होती तो अपनी आत्मा पर तो प्रकट हो ही जाती है। वह अपनी आत्मा के प्रति तो अशिष्ट एव असभ्य हो ही जाता है। कामनाओ के रूप मे भी काम मनुष्य मे तीव्रता एव लिप्सा उत्पन्न कर देता है। इससे मनुष्य मे छल-कपट, शोषण अपहरण आदि के दोष उत्पन्न हो जाते है।

क्रोध तो मनुष्य को एक प्रकार से सामयिक पागल ही बना देता

है। क्रोध होने पर मनुष्य शिष्टता तथा सभ्यता की सारी सीमाये तक भूल जाता है। वह न कहने योग्य बाते कहने और न करने योग्य काम कर बैठता है। क्रोध मे लोग छोटो के साथ तो दुर्व्यवहार करते ही है बडो के साथ भी अशिष्टता का व्यवहार कर बैठते है। क्रोध मे मनुष्य बडो का बडप्पन और आदरणीयो की गुरुता का भी मान नही करता। लोग अपने बडे भाइयो यहाँ, तक कि माता-पिता तक को भी बुरा भला कहने लगते है क्रोध धृष्टता एव अशिष्टता का बहुत बडा कारण है।

मद मनुष्य को ससार मे किसी को भी शालीन व्यवहार के योग्य नही समझने देता। मद का नशा क्रोध के वेग से अधिक बुरा होता है। जिसे धन वैभव रूप यौवन, शक्ति, बल अथवा अधिकारो का अहङ्कार रहता है वह सचराचर जगत को तृणवत् ही समझा करता है। किसी से सीधे मुँह बात करना तो वह जानता ही नही। अहङ्कार मद से मतवाले व्यक्ति बहुधा दया, क्षमा, सहानुभूति एव सवेदना जैसे मानवी गुणो को तिलाजलि दे देते है। जरासी प्रतिकूलता पाकर अहङ्कारी व्यक्ति आपे से बाहर हो जाता है और बडे-बडे अनर्थ कर डालने पर उतर आता है। अनाचार अत्याचार तथा अनीति आदिक दोष प्राय अहङ्कार मे ही जन्म पाते है। अहङ्कार मनुष्य को आततायी भी बना देता है। वह अपने दम्भ की तुष्टि मे दूसरो की सुख-सुविधा का भी ध्यान नही रखता। वह अपनी प्रसन्नता के स्वार्थ मे यह तक विचार नही कर पाता कि मेरे अमुक व्यवहार से अमुक व्यक्ति को अमुक कष्ट, दुख अथवा क्लेश हो सकता है। अहङ्कारी एक अपने को प्रसन्न करने के लिये हजारो पर अत्याचार करने, उनका अधिकार छीनने मे सकोच नही करता। अहङ्कार जैसा भयानक रोग मनुष्य को किस सीमा तक शील एव शिष्टता से दूर हटा ले जाता है इसका अनुमान नही लगाया जा सकता।

लोभ भी मनुष्य को स्वार्थी, सङ्कीर्ण, निष्ठुर एव क्रूर बना देता है। लोभी की तृष्णा [illegible] भयानक रूप से बढ जाती है। समाज की सारी दौलत पाकर [illegible] लोभी की [illegible] नही होती। बहुत कुछ पास होने पर भी लोभी [illegible] ही रहती है। लोभी को जहा अपने लिये वस्तुअ

की स्पृहा होती है वहाँ दूसरे की चीजों के प्रति बडी डाह होती है। वह यही चाहता है कि जो वस्तु मेरे पास है वह किसी दूसरे के पास न हो और यदि किसी के पास है तो मुझे मिल जानी चाहिये। ससार को विपन्न कर स्वय सम्पन्न बनने की इच्छा लोभी की सहज स्वाभाविक मानसिक दुर्बलता होती है। अपने स्वार्थ साधन अथवा लिप्सा की पूर्ति मे लोभी कपटपूर्ण व्यवहार करने से भी नही चूकता। वह झूठ बोलकर आडम्बर बनाकर लोगो को ठगा ही करता है। अपने स्वार्थ के लिये वह किसी के साथ भी क्रूरता का व्यवहार कर सकता है। लोभी व्यक्ति धनी निर्धन, सबल निर्बल, स्त्री-पुरुष, बालक, वृद्ध किसी का भी सम्मान करना नही जानता। दया, दाक्षिण्य, सहायता, सहयोग, सहानुभूति एव सवेदना, सद् व्यवहार मानो उसके शब्द कोष मे नही होते। लालची व्यक्ति पराकाष्ठा तक कृपण होता है। वह किसी क्षुधार्त को भूखा मरते आँखो देख सकता है, किन्तु उसका पाषाण हृदय उसे एक बार भोजन कराना स्वीकार नही करेगा। एक पैसे के लिये किसी का बडे से बडा काम बिगडते देख सकता है किन्तु एक पैसा देना स्वीकार नही करेगा। लोभी व्यक्ति तो अशिष्टता एव अभद्रता का जीता जागता नमूना ही होता है।

इस प्रकार के मानसिक विकारो के रहते हुये कोई किस प्रकार अपना मानसिक विकास कर सकता है, और मानसिक विकास के अभाव मे उसका आत्म स्वरूप की ओर बढ सकना सम्भव न होगा। अतएव आवश्यक है कि मनुष्य अपने मानसिक विकारो को दूर करे उन पर विजय प्राप्त करे और चिरसाध्य सच्ची सुख-शांति का अधिकारी बने।

मनोविकारो पर विजय पाने का साधारण-सा उपाय है—अपने अन्दर सभ्यता, शिष्टता तथा नम्रता का भाव उत्पन्न करना। शिष्टता मे एक अनुपम मिठास रहती है। एक बार का शिष्ट व्यवहार अपनी मधुरता से अनेक बार शिष्टता का व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। जो सुशील है, सभ्य एव शिष्ट है वह न केवल औरो को ही सुखी एव शीतल बनाता है बल्कि अपने को भी सुखी बनाता है। शील एव शिष्टता दैवी गुण है। इनका

अवतरण कर लेने से मनुष्य सहज ही मानसिक विकास की ओर बढ़ने लगता है। अपने मनोविकास के लिये एक सच्चे, शिष्ट तथा शालीन व्यक्ति को किसी तरह साधना अथवा पूजा अर्चा की जरूरत नहीं पड़ती। शिष्ट व्यवहार स्वयं ही अपने में एक पूजा है एक उपासना है। एक उपासक तो केवल एक ईश्वर की कल्पना करके उसकी पूजा किया करता है, उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करता है, किन्तु एक नम्र एवं शिष्ट व्यक्ति न जाने कितने मनुष्यों की आत्मा प्रसन्न किया करता है जो कि ईश्वर का ही अंश होती है। उपासक एक देव की पूजा करता है और शिष्ट व्यक्ति अपने शालीन व्यवहार से सार्वजनिक विराट् भगवान की पूजा किया करता है शिष्ट आचरण को केवल व्यवहार नहीं पूजा के भाव से ही देखना चाहिये।

भी आधार है। जो अशिष्ट है, असभ्य अथवा शील रहित है वह जीवन मे किसी प्रकार की उन्नति नही कर सकता। नौकरी, व्यवसाय आदि किसी भी क्षेत्र मे किसी धृष्ट की सफलता का कोई उदाहरण आज तक नही पाया है। धृष्ट अथवा अशिष्ट व्यक्ति को कोई भी पसन्द नही करता और न कोई उससे सहयोग ही करना चाहेगा। मनुष्य के बड़े से बड़े गुण, बडी से बडी क्षमताये अशिष्टता के दोष से दूषित होकर नष्ट हो जाती हैं। बहुत कुछ उपयोगी होने पर भी दुष्ट अथवा दुर्मुख व्यक्ति के पास कोई जाना तक पसन्द नही करेगा। अशिष्ट व्यक्ति एक प्रकार से समाज से वहिष्कृत ही रहता है।

धृष्ट अथवा अशिष्ट विद्यार्थी बहुत कम सफल होते है कर्कशा पत्नी कभी भी पति का प्यार नही पा सकती और कठोर पति कभी भी गृहस्थी की सुख-शान्ति नसीब नही कर सकता। धृष्ट तथा अशिष्ट बच्चे और तो और स्वय अपने माता-पिता के लिये भी घृणा के पात्र बन जाते है। असफलता एव अशान्ति अशिष्टता एव असभ्यता का सुनिश्चित परिणाम है।

इसके विपरीत विनम्रता, मधुरता, शिष्टता एव सभ्यता पूर्ण व्यवहार मनुष्य को सफलता के उच्च शिखर पर पहुँचा देने मे सक्षम होते हैं। निर्धन होने पर भी शिष्ट विद्यार्थी की शिक्षा रुकने नही पाती। किसी नौकरी मे शिष्टता एक बार योग्यता की कमी को भी पूरा कर देती है। जो स्वय सही मानो मे शिष्ट एव सभ्य है उसे किसी काम के लिये किसी की सिफारिश की आवश्यकता नही पडती। विनम्रता एव मधुरता क्रूर से क्रूर शत्रु को जीत लिया करती है। सहयोग सहायता एव सहानुभूति शिष्ट एव शीलवान व्यक्ति की विरासत माननी चाहिये। घर बाहर देश परदेश,कही भी क्यो न रहे विनम्रता एव शिष्टता मनुष्य को मित्र की तरह हर जगह सहायता करती रहती है। विनम्र व्यवहार विरोधियो के बीच भी अपना मार्ग बना लिया करता है।

जो शिष्ट एव सभ्य होता है वह सहिष्णु भी होता है। शिष्ट दूसरे से तो दुखदायी व्यवहार नही करता है यदि उसके साथ भी दुःखद व्यवहार किया जाता है तब भी वह अधिक दुखी नही होता। न तो उस पर कोई अप्रिय प्रतिक्रिया होती है और न उसे क्रोध ही आता है। विपरीत व्यवहार

से भी उसकी मन शान्ति अक्षुण्ण बनी रहती है । बदले में बुरा व्यवहार न [illegible] वह उस दुष्ट विरोधी को भी लज्जित कर देता है । शिष्ट एवं सभ्य के [illegible] की परिस्थितियाँ बहुत कम आती हैं । और यदि आती भी है तो [illegible] अधिक भयानक नहीं बनने पाती । वह बिना किसी हानि के उन्हें [illegible] लिया करता है । इस प्रकार कोई भी शिष्ट एवं सभ्य व्यक्ति सदा ही [illegible] निर्द्वन्द्व एवं साह्लादतापूर्ण सुख शान्ति का जीवन व्यतीत किया करता [illegible] को चाहिये कि वह स्थायी सुख शान्ति के लिये विकारों को दबा [illegible] एवं सभ्य बने तथा शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार के अभ्यास से विकारों [illegible] प्राप्त करे ।

[illegible]वनाओं में अभिव्यक्त विरक्ति

पूर्वक अपनी छाती से लगा लिया और उसे दूध पिलाने के लिए इन्कार नही किया जबकि अधिकार उसका नही छोटे बच्चे का ही था। दो-तीन दिन मे ही छोटा बच्चा कमजोर पड़ने लगा। चिड़िया घर की निर्देशिका वेले जे. येनगती के आदेश से बड़े बच्चे को वहाँ से निकाल कर अलग कर दिया गया। अभी उसे अलग किये एक दिन ही हुआ था, वहाँ उसे अच्छी से अच्छी खुराक भी दी जा रही थी किन्तु जीव मात्र की ऐसी अभिव्यक्तियाँ बताती है कि आत्मा की वास्तविक भूख, भौतिक सम्पत्ति और पदार्थ भोग की उतनी अधिक नही जितनी कि उस भावनाओ को प्यास होती है। भावनाएँ न मिलने पर अच्छे और शिक्षित लोग भी खूँख्वार हो जाते है जबकि सद्भावनाओ की छाया मे पलने वाले अभाव ग्रस्त लोग भी स्वर्गीय सुख का रसास्वादन करते रहते है। बड़ा बच्चा बहुत कमजोर हो गया जितनी देर उसका संरक्षक उसके साथ खेलता उतनी देर तो वह कुछ प्रसन्न दीखता पर पीछे वह किसी प्रकार की चेष्टा भी नही करता, चुपचाप बैठा रहता, उसकी आँखे लाल हो जाती, मुँह उदास हो जाता स्पष्ट लगता कि वह दुखी है।

गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर उसे फिर से उसके माता-पिता के पास कर दिया गया। वह सबसे पहले अपनी माँ के पास गया पर उसकी गोद मे था छोटा भाई, फिर वही प्रेम की प्रतिद्वन्द्विता। उसने अपने छोटे भाई के साथ फिर रूखा और शत्रुता पूर्ण व्यवहार किया। इस बार माँ ने छोटे बच्चे का पक्ष लिया और बड़े को झिड़क कर अलग कर दिया मानो वह बताना चाहती हो कि भावनाओ की भूख उचित तो है पर औरो की इच्छा का भी अनुशासन पूर्वक आदर करना चाहिये। जो अपने से छोटो पर कृपा नही कर सकता, उनके प्रति स्नेह और उदारता व्यक्त नही कर सकता वह भी क्या इन्सान।

कहते है अनुशासन—व्यवस्था और न्याय नीति के लिये थोड़ी कड़ाई अच्छी होती है। अहिंसा की शक्ति हिंसा से हजार गुना अच्छी, घृणा नही संसार मे करुणा बड़ी मानी जाती है, प्रेम देना चाहिए वैर नही बाँटना चाहिये पर यदि अहिंसा हिंसा, करुणा, चाटुकारिता तथा प्रेम मे विश्वास की हिंसा

की जा रही हो, अनीति और अन्याय का आचरण किया जा रहा हो तो दण्ड ही उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है। शक्ति की मनमानी रोकने के लिए कुछ भी करना पड़े तो करना चाहिये। इस तरह का दण्ड, संघर्ष, युद्ध और उपेक्षा मानवता की ही श्रेणी में आते हैं। दण्ड पाकर बड़ा बच्चा ठीक हो गया अब उसने अपनी भावनाओं की—परितृप्ति का दूसरा और उचित तरीका अपनाया। वह माँ के पास उसके शरीर से सटकर बैठ गया। मा ने भावनाओं की सद्भावना को समझा और अपने उद्धत बच्चे के प्रति स्नेह जताया उससे उसका भी उद्वेग दूर हो गया थोड़ी देर में वह अपने पिता के कंधों पर जा बैठा। कुछ दिन पीछे तो उसने समझ भी लिया कि स्नेह, सेवा, दया मैत्री, क्षमा, उदारता त्याग सब प्रेम के ही रूप हैं, सो अब उसने अपने [illegible] लिया करती। इस तरह एक पारिवारिक विग्रह फिर से [illegible] के वातावरण में बदल गया। छोटे कहे जाने वाले इन नन्हें-नन्हें [illegible] कुछ सीख पाता तो उसका आज का जलता हुआ व्यक्ति- [illegible] जीवन भी कभी भी परिस्थितियों में स्वर्गीय सुख और [illegible] होता।

निसर्ग मे यह आदर्श पग-पग पर देखने को मिलते है कैफनी एस. सी. मे स्टीव एण्ड स्किनर के पास एक मुर्गी थी। एकबार उसके सद्यप्रसूत बच्चो को बाज ने पकड़ कर खा लिया। उसके थोडी देर बाद मुर्गी ने एक बिल्ली का पीछा किया लोगो ने समझा मुर्गी मे प्रतिशोध का भाव जाग गया है किन्तु यह धारणा कुछ देर मे ही मिथ्या हो गई जब कि मुर्गी ने बिल्ली को पकड़ लिया उसके पास आ जाने से उसके चारो बच्चे भी पास आ गये मुर्गी ने चारो बच्चे स्वय पाले और इस तरह अपनी भावना भूख को बिल्ली के बच्चो से प्यार करके पूरा किया।

डा० माइबर्ट ने जङ्गल जीवन की व्याख्या करते हुए एक गिलहरी और गौरैया मे प्रगाढ मैत्री का वर्णन किया है गिलहरी यद्यपि अपने बच्चो की देखरेख करती और अपने सामाजिक नियमो के अनुसार अन्य गिलहरियो से मेल-मुलाकात भी करती पर वह दिन के कम से कम चार घन्टे गौरैया के पास आकर अवश्य रहती दोनो घन्टो खेला करते। दोनो ने एक-दूसरे को कई बार आकस्मिक सङ्कटो से बचाया और जीवन रक्षा की। गिलहरी आती तब अपने साथ कोई पका हुआ बेर गौरैया के लिये अवश्य लाया करती। गौरैया उस बेर को गिलहरी के चले जाने के बाद खाया करती।

भावनाओ की प्यास सृष्टि के हर जीव को है यही एकात्मा का प्रमाण है। प्यार तो खूँखार जानवर तक चाहते है। रूसी पशु प्रशिक्षक एडर बोरिस की मित्रता क्रीमिया नामक एक शेर से हो गई। दिन भर वे कही भी रहते पर यदि एकबार भी मिल न लेते तो उनका मन उदास रहता। मिलते तो ऐसे जैसे दो सगे बिछुडे भाई वर्षो के बाद मिले हो। एकबार एक सरकस का प्रदर्शन करते हुए बोरिस के शेर भडक उठे और वे उसे चबा जाने को दौड़े किन्तु तभी पीछे से वहाँ क्रीमिया जा पहुँचा उसने शेरो को घुडक कर हटा दिया। बोरिस बाल-बाल बच गया।

स्वामी दयानन्द एकबार बूढे केदार के रास्ते पर एक स्थान मे ध्यान मग्न बैठे प्रकृति की शोभा का आनन्द पान कर रहे थे उस समय एक साधु भी वहाँ पहुँच गये। साधु ने महर्षि को पहचान कर उन्हे प्रणाम किया ही था

कि उन्हें एक शेर की दहाड़ सुनाई दी। ... देखते ही वह महात्मा कांपने लगे। दयानन्द ... शेर खूंख्वार जानवर है तो क्या हुआ ... भावना की ऐसी जबर्दस्त शक्ति है कि वह एक शेर ... गुलाम बना सकती है। सचमुच शेर वहां तक आया। ... अन्दर चले गये पर महर्षि वहीं बैठे रहे। शेर स्वामी के पास ... उन्होंने बड़े स्नेह से उसकी गर्दन सिर पर हाथ फेरा ... उनकी आंखों की चमक कह रही थी कि जीवन की ... अभिलाषा तो आन्तरिक है, प्रेम की है। वह कुछ देर ... देकर चला गया। पर भावनाओं का वह पाठ, प्रेम की वह ... पढ़ेगा कब सीखेगा? जिस दिन मनुष्य भावनाओं ... करना सीख गया उस दिन वह भगवान् हो जायेगा और ... स्वर्ग हो जायेगी। तब स्वर्ग अन्यत्र ढूँढने की आवश्यकता न पड़ेगी।

आत्म-कल्याण की त्रिविध श्रेय-साधना

स्वार्थ और परमार्थ जिसमें दोनों सधते हों—अपना तथा सबका कल्याण जिसमें सधता हो, वही सच्चा अध्यात्म है। भजन का अर्थ ... जप या ध्यान ही नहीं, वरन् सेवा भी है। भजन शब्द संस्कृत की 'भज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है सेवा। जिससे अपनी और दूसरों की सेवा बन पड़े उसे सच्चा भजन कहना चाहिये। जिस भजन को सर्वाङ्गपूर्ण कहा जा सकता है, जिससे वस्तुतः ईश्वर प्रसन्न हो सकता है, उसका स्वरूप सेवा से ... ही होना चाहिए।

नामोच्चार और इष्टदेव का ध्यान उपासना-क्षेत्र की वे आरम्भिक ... एकाग्रता से सहायता मिलती है। इस एकाग्रता ... संकीर्ण ... से—तृष्णा एवं वासना से चित्त को विरत ... करने के निमित्त होना चाहिए। अन्तःकरण ... उदार, ... बढ़ाने के लिये सेवा-साधना का

अभ्यास करना पड़ता है। प्राचीनकाल में प्रत्येक ब्रह्म-परायण व्यक्ति के जीवन मे सेवा-धर्म के लिये प्रमुख स्थान रहता था। कोई ब्राह्मण, कोई साधु, कोई भक्त ऐसा न था जो ईश्वर की प्रतिकृति—इस विश्व-वसुधा को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक योगदान न करता रहा हो। आज वही राजमार्ग हमारे लिये भी है। जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिये हमे सेवा-धर्म को अपनी भावना तथा प्रक्रिया मे प्रमुख स्थान देना ही होगा अन्यथा न तो हम आत्मा को प्राप्त कर सकेंगे और न परमात्मा को।

नव-निर्माण के लिये जन-मानस के परिष्कार का जो पुण्य-परमार्थ अपनाने के लिये युग निर्माण परिजनो को प्रेरणा दी गई है, उसे सामाजिक कार्यमात्र न ही मान लेना चाहिए। वस्तुत: वह आत्मिक प्रगति की—ज्ञानयोग भक्तियोग, कर्मयोग की सङ्गम साधना है। सद्विचारो का निरन्तर चिन्तन करना—सत्प्रवृत्तियो से भावना स्तर को निमग्न करना वस्तुत: अन्त:करण मे परमेश्वर की प्रतिष्ठापना करने का ही एक महत्वपूर्ण प्रयोग है।

जिस प्रकार जिह्वा पर भगवान का नाम और मस्तिष्क मे भगवान का रूप प्रतिष्ठापित करके जप और ध्यान की प्रक्रिया चलायी जाती है, उसी प्रकार अन्त:करण मे सद्भावो, सद्गुणो, सत्कर्मो, सत् स्वभावो की स्थापना करना भी उपासना ही है। भगवान नाम और रूप तक ही सीमित नही है। यह दो प्रक्रियाये तो आरम्भिक है—भगवान् का वास्तविक स्वरूप तो भाव-मय है। जितनी देर अन्तरात्मा मे उच्च भावनाये विचरण करती रहे, सम-झना चाहिये उतनी देर परमेश्वर ही विराजमान रहे। लोकमानस मे सत्प्र-वृत्तियो की प्रतिष्ठापना के सत्प्रयत्नो द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। जितनी देर इन क्रिया-कलापो मे संलग्न रहा जायगा, उतनी देर अपने अन्त:करण चतुष्टय मे—मन-बुद्धि-चित्त व अहङ्कार मे उच्च आदर्शो का रूप धारण कर परमेश्वर ही प्रतिष्ठापित रहेगा। युग-परिवर्तन के लिये आरम्भ किये गये ज्ञान-यज्ञ मे—जन-जागरण मे—जितनी देर हम लगे रहते है। वस्तुत. उतने समय भगवान् के समीप रहने का—उपासना का—ही लाभ लेते है। यह आध्यात्मिक प्रयोग अपना भी कल्याण करता है और दूसरो का भी, इसलिए

उसे सच्चा अध्यात्म, सच्चा भजन कहा जा सकता है। ... के अनुरूप श्रेष्ठतम स्तर की साधना को तपश्चर्या कहा ... भी अत्युक्ति न होगी। प्रिय परिजनों को इस साधना से ... पूर्ण करने और जीवनलक्ष्य प्राप्त करने के उद्देश्य से संलग्न होना चाहिए। साधना सरल अवश्य है पर उसका प्रतिफल किसी भी कठोर ... कम नहीं है।

नव-निर्माण योजना में जहाँ अपने समीपवर्ती लोगों को ... आदर्शवादिता की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देने के लिए कहा गया, वहाँ यह भी बताया गया है कि आत्म-निर्माण के लिये उतनी ही ... साथ प्रयत्न किया जाये। अपना स्तर ऊँचा उठाने के लिए ... प्रयत्न करना चाहिए। नव निर्माण की साधना में यह भी ... पूर्ण अङ्ग है।

प्रातःकाल नींद खुलते ही, अपने साथ वार्तालाप शुरू कर देना चाहिए। बिस्तर छोड़ने से पूर्व अपने आप के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक आत्म-चिन्तन लकीर पीटने के रूप में नहीं वरन् निर्माणात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिये करना चाहिये।

हर दिन को एक नया जीवन और हर रात को एक पटाक्षेप—मृत्यु—मानकर ऐसी योजना प्रातःकाल ही बना लेनी चाहिये कि हमारा आज का दिन हर दृष्टि से आदर्श स्तर का बीते।

पिछले दिनों किन दोष-दुर्गुणों का बाहुल्य अपने में रहा है और किन सद्वृत्तियों की न्यूनता रही है? इसे बारीकी से आत्म-निरीक्षण करते हुए ... चाहिए और ... यह बनानी चाहिए कि उन दोषों को मिटाया ... जाये। इसी प्रकार जो सद्गुण न्यून मात्रा में थे, उन्हें अधिक मात्रा में ... किया जाये।

... के दिन ... उठने से लेकर सोने तक की ऐसी दिनचर्या बना ... कि ... अपव्यय की गुंजायश न रहे। हर

क्षण सार्थक, श्रेष्ठ एव उपयोगी कार्यों में लगे। इस दिनचर्या को दिन भर कडाई के साथ पालन करने का सङ्कल्प करना चाहिए। कोई अनिवार्य व्यव-धान आ जाये तो बात दूसरी है अन्यथा आलस्य, ढील-पोल एव लापरवाही के कारण उस दिनचर्या मे कोई व्यतिक्रम नही होना चाहिये।

समय के सदुपयोग की तरह धन के सदुपयोग की योजना प्रात काल बना लेनी चाहिए। अपना एक भी पैसा हानिकर एव अनावश्यक कार्यो मे खर्च न हो, जो व्यय किया जाये योजनाबद्ध बजट के अनुरूप हो। एक-एक पैसा केवल उन कार्यों मे खर्च होना चाहिए, जो उपयुक्त आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक हो। धन उस मार्ग मे कमाया जाना चाहिए जिसमे अनीति जुडी हुई न हो। अवाञ्छनीय कमाई से बनाई हुई खुशहाली की अपेक्षा ईमानदारी के आधार पर गरीबों जैसा जीवन बनाये रहना कही अच्छा है। यह नीति अपने रोम-रोम मे बसी हुई रहनी चाहिए।

समय का सदुपयोग और धन का उपयोग, यह दो नियन्त्रण जिसने कर लिए, समझना चाहिए कि उसने आत्म-कल्याण की आधी मजिल पार कर ली। (१) परिश्रमशीलता, मधुर एव सभ्य भाषण, सादगी, स्वच्छता, उदारता, सज्जनता जैसे गुण यद्यपि कम महत्व के दिखाई पडते है पर वस्तुत उनका बहुत मूल्य है। भौतिक सफलता एव आत्मिक प्रगति इन्ही सद्गुणो के ऊपर अवलम्बित रहा करती है।

विचारो को विचारो से काटने की कला जिसने सीख ली, समझना चाहिये कि मानसिक अस्वस्थता पर उसने विजय प्राप्त कर ली। ईर्ष्या, द्वेष शङ्का, सन्देह, भय, आवेश क्रोध, कामुकता, लालच आदि दुष्प्रवृत्तियाँ समय-समय पर विभिन्न परिस्थितियो की घटनाओ के माध्यम से मन मे उठती रहती है। इनके विरोध मे उस विचारधारा को मन मे सँजोये रहना चाहिए, जो इन कुविचारो की काट कर सके विचारो मे विचार काटने की कला जिसने सीखली, समझना चाहिये कि उसने मानसिक उलझनो को सुलझाने का रहस्य सीख लिया। हर रोज प्रात काल आत्म-चिन्तन के समय यह देखना चाहिए कि अपने मन क्षेत्र मे आजकल किन अनुपयुक्त विचारो का घेरा है।

कामना और वासना का सन्तुलित स्वरूप

कामना एव वासना को साधारणतया बुरे अर्थो मे लिया जाता है और इन्हे त्याज्य माना जाता है। किन्तु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इनका विकृत रूप ही त्याज्य है। अपने शुद्ध स्वरूप मे मनुष्य की कोई भी वृत्ति निन्दनीय नही है, वरन् एक प्रकार से आवश्यक और उपयोगी मानी जाती है। जीवन रक्षा और जीवन विकास के लिए कामना तथा इच्छा का होना अनिवार्य है। इनके विना तो किसी मे कुछ करने का उत्साह ही पैदा नही होगा। और मनुष्य फिर कष्टसाध्य प्रयत्न, श्रमशीलता मे संलग्न ही क्यो होगा ?

वासना मे, इन्द्रिय सुख का आकर्षण होने से स्वास्थ्य और सदाचार का उल्लघन किया जाता है तभी वह त्याज्य मानी जाती है। इन्द्रिय लोलु--पता के रूप मे वासना की परिणिति सभी भाँति हेय मानी गई है। इसके विपरीत परिवार उद्यान को सजाने, सृष्टि क्रम को जारी रखने और पारस्परिक प्रेम उदारता एव सेवा सहायता का व्यवहारिक जीवन विताने की दृष्टि से वह आवश्यक भी है। इसी तरह जव मनुष्य अपने ही लाभ की वात सोचता है, अपने हित के लिए दूसरो का ध्यान नही रखता, तो यह कामना भी विकृत मानी जायगी। लोक संग्रह के लिए कामना का होना स्वाभाविक है, किन्तु लोक सग्रह का आधार स्वहित साधन ही होगा तो इस तरह की कामना मनुष्य के पतन का कारण वनेगी। वस्तुतः देने के लिए ही लेने की कामना होना आवश्यक है। किसी महत्व पूर्ण मिशन की पूर्ति मे अपने तथा परिवार के धारण, पोषण, सामाजिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह के लिए उन्मुक्त भाव मे देने वाला व्यक्ति उपार्जन की कामना रखता है तो इसे वुरा नही माना जाता।

देने के लिए लेने का क्रम जव विगड जाता है और जव मनुष्य अपने लिए ही सग्रह करने मे तल्लीन रहता है, अपने धारण, पोषण और उत्तरदायित्वो के निर्वाह के लिए नही वरन् अपना घर भरने मे सलग्न हो

जाता है तथा इसके लिए दूसरों का कोई ध्यान नहीं [illegible] तभी मनुष्य की कामना विकृत हो जाती है। इससे उसका मानसिक सन्तुलन भी बिगड़ने लगता है। कामना विकृत होकर लोभ, तृष्णा और आसक्ति को जन्म देती है। इन विकारों के बढ़ जाने से मनुष्य की इच्छाशक्ति एवं आत्म-बल क्षीण हो जाते हैं। और फिर भय, आशंका, चिन्ता, अशान्ति आदि का प्रादुर्भाव होता है। स्वर्जित वस्तुओं की हानि की तनिक-सी आशंका मनुष्य को चिन्तित एवं परेशान करने लगती है। हानि के भय का धक्का कई बार इतना प्रबल होता है कि लोगों की मृत्यु तक हो जाती है या वे मानसिक रोगी बन जाते हैं। अकारण चोरी, डकैती, भेद खुलने का डर बढ़ने लगता है। अर्थ संग्रह के इन अनैतिक [illegible] को मनुष्य का अन्तर स्वीकार नहीं करता और उसका नैतिक भाव उसकी भर्त्सना करने लगता है। मनुष्य का आन्तरिक एवं बाह्य जीवन संघर्षमय बन जाता है, जिसका परिणाम पतन, विनाश असफलताओं के रूप में निकलता है।

कामना की मूल प्रेरणा इन्द्रिय सुख में ही नहीं वरन् सन्तान के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के फल स्वरूप होती है। इन्द्रिय सुख तो गौण है, स्थूल रूप से आत्माभिव्यक्ति के कार्यक्रम को रसपूर्ण बनाने के लिए प्रकृति प्रदत्त [illegible] है। देखा जाता है कि इन्द्रिय सुखों को पर्याप्त भोग कर भी सन्तान के अभाव में स्त्री-पुरुष अतृप्त और असन्तुष्ट बने रहते हैं। अतएव [illegible] सन्तान के रूप में आत्माभिव्यक्ति का प्रकृत स्पन्दन है। और इसके [illegible] सन्तान, परिवार की सेवा, उनका भरण-पोषण, सुख-सुविधा, [illegible] जुड़े हुए हैं।

[illegible] इन उत्तरदायित्वों पर ध्यान न देने वाले, स्वेच्छा-[illegible] ही है वासना तृप्ति का आधार बनाकर चलते हैं तो [illegible] होता हो जाती है। लोग स्वास्थ्य और प्रकृति के [illegible] करते हैं, फलस्वरूप यही वासना विप-[illegible] मानसिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती [illegible] है। आन्तरिक अशान्ति, क्लेश के साथ

अनेकों बीमारियों, रोग, दुर्बलताओं के शिकार होकर स्वय दीन हीन असमर्थ बन जाते है। वासना अपना मूल्य चाहती है सन्तान, स्त्री परिवार की सेवा भरण पोषण उनकी सुख सुविधाओं मे अपने आपको उत्सर्ग करके। जो इस मूल्य को नही चुकाता और मनमाने ढग से इन्द्रिय सुखो मे ही वासना तृप्ति का आधार ढूँढता है उसे सदैव अशान्त, उद्विग्न, दुखी क्लेशमय जीवन बिताना पडे तो कोई आश्चर्य नही।

कामना और वासना की विकृति मे मनुष्य मे कई शारीरिक एव मानसिक विकार पैदा हो जाते है जो मनुष्य के जीवनक्रम तथा चेष्टाओ मे असन्तुलन पैदा करते है। इस स्थिति मे मनुष्य का अभिमान प्रबल हो जाता है। और अभिमान के खूँटे से बँधी हुई साथ-साथ विकृत वासना कामनाओ की जड़े मजबूत हो जाती हैं। मनुष्य की कामना वासना मे विक्षेप पडने से उसके अहकार को चोट पहुचती है और इसकी परिणिति क्रोध के रूप मे प्रकट होती है। अपनी कामना, वासना की पूर्ति मे तनिक-सी अडचन पैदा होने पर मनुष्य क्रोधित हो उठता है। क्रोध से बुद्धि विवेक नष्ट हो जाते है और मनुष्य जो चाहे सो कर बैठता है। वासना और कामना की पूर्ति मे विक्षेप पडने पर आये दिन होने वाली हत्याये, दुर्घटनाये इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तुत कामना, वासना मे अन्वलिप्त मनुष्य बुद्धि, विवेकहीन, उन्माद की अवस्था मे होता है, वह जो कुछ भी कर बैठे तो कोई आश्चर्य नही।

मनुष्य की कामना, वासना की पूर्ति दूसरो के सहयोग सयोग से ही सम्भव होती है। अकेला व्यक्ति तो सुखो का उपभोग भी नही कर सकता। कदाचित् किसी व्यक्ति को स्वर्ग-उद्यान मे अकेला ही रहने को कहा जाय तो कोई तैयार न होगा। कोई तैयार भी होगा तो वहाँ से जल्दी ही मानव समूह मे आने के लिए व्याकुल हो उठेगा। दूसरो से मिल कर उनके सयोग सहयोग से ही मनुष्य अपनी कामना और वासना को तृप्त करता है। इसके लिए उसे पर्याप्त मूल्य चुकाना भी आवश्यक है। दूसरो की सेवा सहायता करके उन्हे सुख पहुँचाने के लिए मनुष्य को अपने साधन, सग्रह और स्वयं को किसी न

उन सूक्ष्म इन्द्रियो की प्रेरणा के कारण असमर्थ और अनिच्छुक होते हुए भी काम करने को विवश होते है ।

आँखें दूखने आगई हो पर यदि कोई बहुत मनोरंजक दृश्य या खेल सामने आवे तो दूखती आँखें दर्द अनुभव करते हुए भी उस खेल या दृश्य को देखने के लिए विवश होती हैं । जीभ मे छाले पड़ रहे हो और चट पटी चीजे खाने से छालो का कष्ट और भी बढने से बेचारी जीभ को और भी अधिक कष्ट उठाना पड़ रहा हो फिर भी भीतर की स्वादवासना की प्रेरणा से विवश होकर जीभ को चटपटे पदार्थ खाने पड़ते हैं ।

यदि तन की स्थिति किसी भय, चिन्ता' शोक, क्रोध उद्वेग, के आवेश से ग्रस्त हो रही हो और उसी अन्त:प्रदेश मे रहने वाली इन्द्रिय चेतना उससे प्रभावित हो रही हो तो बाह्य अवयव निरोग और समर्थ होते हुए भी सामने उपस्थित भोगो मे रुचि लेना ही नही छोड देते वरन् उनसे घृणा भी करते है किसी व्यक्ति को पुत्र की मृत्यु का शोक समाचार मिले उस समय उसका पेट खाली हो' सामने स्वादिष्ट पदार्थों की सुसज्जित थाली रखी हो तो भी भूख भाग जायेगी । सामने थाली को छूने के लिए भी मन न करेगा एक ग्रास भी मुँह मे न दिया जायेगा । यही बात अन्य इन्द्रियो के बारे मे भी है, मनः क्षोभ की स्थिति मे वे सभी अपने -अपने विषयो से विमुख हो जाती हैं ।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-निग्रह के लिए आँख, कान, मुख गुह्य अङ्गों का बाह्य नियत्रण उनकी आदतो को बदलने एव सुधारने के लिए किसी हदतक आवश्यक तो होता है पर उतने से ही काम नही चल सकता । मन मे रहने वाली रस लोलुपता जो विभिन्न इन्द्रियो के माध्यम से वासना की पूर्ति करती है वही प्रधान इन्द्रिय है । वह वासना जिस जिस इन्द्रिय के माध्यम से तृप्त की जाती है उसी के अनुरूप उसके नामो मे परिवर्तन कर दिया जाता है । स्वादेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय,श्रवणेन्द्रिय, दृश्येन्द्रिय कामेन्द्रिय कहने से केवल जिह्वा नाक, कान आँख या गुप्ताग को ही समझ बैठना ठीक न होगा वरन् उनके भीतर जो सूक्ष्म रस चेतना विद्यमान है उसी की प्रधानता माननी पडेगी इसी और निग्रह इन्द्रिय निग्रह कहलाता है ।

स्थूल इन्द्रियाँ, मोटे-मोटे अभ्यासों मे अपनी आदतें बदल देती है। नमक मीठा छोडकर अस्वाद व्रत रखने, उपवास करने से कुछ दिनों में स्वादिष्ट भोजन न मिलने से होने वाली परेशानी की आदत छूट जाती है और जैसा कुछ भोजन मिले उसीसे जीभ काम चलाने लगती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय उन्हे कुछ समय न दिये जाय, वरन् उनमे विपरीत परिस्थिति मे उन्हे दृढता पूर्वक डाले रखा जाय तो उनकी आदतें बदल जाती है और फिर जैसा अभ्यास डाला गया था उसी मे काम चलने लगता है। इस बाह्य निग्रह को 'दम' कहते है। दम का अर्थ है दमन। इन्द्रिय दमन बाह्य इन्द्रियो का ही हो सकता है। पर भीतरी रसानुभूति उतने मात्र से शान्त नही होती। विवशता की स्थिति मे भी वह शान्त नही होती। भीतर ही भीतर ललचाती रहती है, कामना, आकाक्षा और कल्पना के द्वारा अपने विषयो का चिन्तन करती रहती है। अभाव के कारण भीतर ही भीतर क्षोभ और असतोष अनुभव करती रहती है और जब कभी थोडा अवसर मिल जाता है तभी वह फूट पडती है। कई बार तो वह दबी हुई वासना ऐसी फूटती है कि लोकमर्यादाओ और औचित्य सीमाओ का भी उल्लघन कर जाती है।

इस रसानुभूति का समाधान ज्ञान, विचार, विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर मन को समझाने से होता है। विषयो मे सलग्न रहने की व्यर्थता एव हानि पर विस्तार पूर्वक मन ही मन विचार करने और सयम के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले लाभो का सुन्दर-सा कल्पना चित्र बनाने से होता है। असयम की हानि और सयम के लाभो को विवेक की कसौटी पर खरे-खोटे की पहचान करने एव खोटे को छोडकर खरे को पकडने की दूरदर्शिता तथा बहादुरी दिखाने मे मन मे सद्बुद्धि जागृत होती है। उसके परिवर्तन से मनः क्षेत्र के अन्तर्गत काम करने वाली सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी अपनी गतिविधि बदल देती है। इसी परिवर्तन को 'शम' कहते है। शम का अर्थ शमन, समाधान, शान्ति। इन्द्रिय निग्रह के लिए शम और दम दोनो की ही आवश्यकता है। पर प्रधान महत्व शम का है।

रक्त विकार के कारण उत्पन्न होने वाले फोडो पर भी मरहम तो लगाई ही जाती है, किन्तु उनका मूल इलाज रक्त शोधक चिकित्सा से ही होता है। 'दम' अनावश्यक हो ऐसी बात नही है उसका भी महत्व एवं उपयोग निश्चित रूप से है, पर यह स्मरण रखने की बात है कि रोग की जड रक्त की शुद्धि होने से ही कटेगी। मनोभूमि मे विपयो के प्रति जो असाधारण आकर्षण भरा हुआ है उसे वही निकालना पडेगा। शम के लिये पूरी साव-धानी और श्रद्धा के साथ कटिवद्ध होना पड़ेगा। जन्मान्तरों से सचित यह वासना वृत्ति अंतर्मन मे गहरी जमी होती है, इसलिये इसे उखाडने में श्रम पडता है, समय लगता है, बार-बार असफलता और निराशा के अवसर भी आते है पर यह भी निश्चित है कि मन से किसी वस्तु को प्राप्त करने का सकल्प भी अधूरा नही रहता। आत्मकल्याण के पथ का पथिक 'शम' को भी प्राप्त कर लेता है, दम तो उसके लिये बहुत ही सरल है।

अपने को पहिचानें—आत्म-बल सम्पादित करें

हर कोई जानता है कि शरीर अनेक सुख सुविधाओ का माध्यम है, ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा रसास्वादन और कर्मेन्द्रियो के द्वारा उपार्जन करने वाला शरीर ही सासारिक हर्षोल्लास प्राप्त करने का माध्यम है। इस लिये स्वस्थ, सुन्दर, सुसज्जित एवम् समुन्नत स्थिति मे रखा जाना चाहिए। इस तथ्य से सभी अपनी अपनी सुविधा और समझ के अनुसार प्रयत्न करते है कि शरीर की साज सम्भाल मे कुछ उठा न रखा जाय। उत्तम आहार विहार इसी दृष्टि से जुटाया जाता है, तनिक सा रोग कष्ट होते ही चिकित्सा की सहायता ली जाती है। स्पष्ट है कि यदि शरीर दुर्बल, रुग्ण एवम् मलीन रखा जायगा तो भौतिक जीवन का सारा आनन्द ही चला जायगा।

शरीर की ज्योति ही मस्तिष्क की उपयोगिता है। आत्मा की चेतना और शरीर की गतिशीलता का भौतिक व आत्मिक समन्वय का प्रतीक है यह मन मस्तिष्क, इसकी अपनी उपयोगिता है। मन की कल्पना, बुद्धि का निर्णय, चित्त की आकाक्षा और अहन्ता की प्रवृति इन चारो से मिलकर अन्त.

करण चतुष्टय बना है। यह चिन्तन-सन्धान मस्तिष्क गह्वर से जीवन मे आबद्ध है यों उसका नियन्त्रण और क्रिया कलाप समस्त शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गो मे देखा जा सकता है ।

सभ्यता, सस्कृति, शिक्षा, दीक्षा द्वारा मस्तिष्क को विकसित एवम् परिष्कृत करने के लिये हमारी चेष्टा निरन्तर रहती है क्योंकि भौतिक जगत से उच्चस्तरीय विकास एव आनन्द उसी के माध्यम से सम्भव है। सुशिक्षित व्यक्ति ही नेता, कलाकार, शिक्षक, डाक्टर, इञ्जीनीयर, शिल्पी, वैज्ञानिक, साहित्यकार, ज्ञानी, व्यवसायी आदि सम्मानित पद प्राप्त कर सकते है। सभ्य और सस्कृत समझे जा सकते है । अशिक्षित एवम् मस्तिष्कीय दृष्टि से अविकसित व्यक्ति आजीवन हेय स्थिति मे पडे रहते है उन्हे प्रगति की घुड दौड मे पिछडा हुआ ही पडे रहना होता है। इस तथ्य को समझने के कारण हर कोई अपने ढङ्ग से ज्ञान वृद्धि का, मानसिक विकास का प्रयत्न करता है।

शरीर को समुन्नत स्थिति मे रखने के लिये पौष्टिक आहार की-- सुसज्जा साधनो की—व्यायाम विनियोग की, चिकित्सा की—विनोद आनन्द की अगणित व्यवस्थाये की गई है। मस्तिष्कीय उन्नति के लिये स्कूल, कालेज प्रशिक्षण केन्द्र, गोष्ठियाँ, सभाये विद्यमान है पुस्तिकाएँ, रेडियो, फिल्म, कलाकृतियाँ, सग्रहालय आदि न जाने कितने उपकरणो का सृजन किया गया है कि मस्तिष्कीय समर्थता बढे और विनोद आनन्द की अधिक मात्रा उपलब्ध हो सके। देखते है कि मानवीय चिन्तन और कर्तृत्व का अधिकाश भाग उपरोक्त दो प्रयोजनो की पूर्ति मे ही नियोजित है। आदमी जो सोचता है, जो जो करता है उसके पीछे शारीरिक और मानसिक कर्तृत्व उन दिनो की सुविधा के लिये ही वहन किये जाते है। गृहस्थ जीवन मे प्रवेश, विवाह, सन्तानोत्पादन, परिवार व्यवस्था, आजीविका, मैत्री, यशोपार्जन, पद, नेतृत्व आदि इन सबके एवम् समाज सम्बन्ध के लिये मनुष्य शरीर और मन की सुविधा को ध्यान मे रखकर ही प्रवृत्त होना है। यही सब तो हम अपने चारो ओर देखते सुनते रहते है। इसके अतिरिक्त और कुछ कहीं है ही नही, ऐसा लगता

है । प्रगति की परिभाषा इन्ही क्षेत्रो मे हो रहे विकास तक सीमावद्ध है । कारण कि जीवन का प्रत्यक्ष भाग इतना ही है । मनुष्य का स्थूल कलेवर शरीर और मन के रूप में ही जाना समझा जा सकता है । सो उन्ही के लिये सुविधा साधन जुटाने मे हर कोई जुटा है । यह उचित भी है । इस जगत के लिये जड साधनो और चेतन हलचलो को यदि मानवी सुविधा एवम् सन्तोष के लिये नियोजित किया जाता है और उसके लिये उत्साह वर्धक प्रयास जुटाया जाता है तो इसमे अनुचित भी क्या है ?

मनुष्य द्वारा जो कुछ किया जा रहा है—ससार मे जो हो रहा है, उसे स्वाभाविक ही कहा जाना चाहिए । यहाँ उसकी निन्दा प्रशसा नही की जा रही । ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित किया जा रहा है जो इस सव मे अधिक उत्कृष्ट एव आवश्यक था उसे एक प्रकार से भुला ही दिया गया । समझ यह लिया गया है कि मनुष्य जो सव कुछ है, वह शरीर और मन तक ही सीमित है । इससे आगे इससे ऊपर और कोई हस्ती नही । यदि इससे आगे इससे ऊपर भी कुछ समझा गया होता तो उसके लिये भी जीवन क्रम मे वैसा ही स्थान मिलता वैसा ही प्रताम होता जैसा शरीर और मन के लिये होता है । पर हम देखते है वह तीसरी सत्ता जो इन दोनो से लाखो करोडो गुनी अधिक महत्व पूर्ण है एक प्रकार से उपेक्षित विस्मृत ही पड़ी है और वह लाभ और आनन्द जो अत्यन्त सुखद एव समर्थ है एक प्रकार से अनुपलव्ध ही रहा है ।

रोज ही यह कहा और सुना जाता है कि हम शरीर और मन सेऊपर 'आत्मा' है सत्सग और स्वाध्याय के नाम पर यह शव्द प्रतिदिन आये दिन आँखो और कानो के पर्दो पर टकराते है पर वह सव एक ऐसी विडम्बना वन कर रह जाता है जो मानो कहने सुनने और पढने लिखने के लिये ही खडी की गई हो । वास्तविकता से जिसका कोई सीधा सम्वन्ध न हो । यदि ऐसा न होता 'आत्मा' को सचमुच ही महत्व पूर्ण माना गया होता, कम से कम शरीर मन जितने स्तर का समझा गया होता तो उसके लिये उतना श्रम

एव चिन्तन तो नियोजित किया ही गया होता जितना शारीरिक मानसिक उप-लब्धियो के लिये किया जाता है।

यथार्थता यह है कि आत्मा के सबन्ध मे बढ़-चढ़ कर बाते कहने सुनने मे प्रवीण होने पर भी उस सबन्ध मे एक प्रकार से अपरिचित ही बने हुए है यदि ऐसा न होता तो दिनचर्या मे आत्मिक उन्नति के लिये कुछ स्थान नियत रहा होता। श्रम और मनोयोग मे उसके लिये भी जगह होती उपलब्धियो को जिन कार्यो मे नियोजित किया जाता है—धन को जिन प्रयोजनो के लिये खर्च किया जाता है उनमे एक मद आत्म विकास के लिये भी रखी गई होती। पर देखा यह जाता है कि उस सबन्ध मे सर्वत्र घोर उपेक्षा ही सव्याप्त है। जो कुछ होता भी है उसे विदूषको द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रहसनो की सज्ञा दी जा सकती है।

आत्मा की बात जो कुछ अधिक ध्यान मे सुनते है वे अधिक इतना कर लेते है कि थोडी ईश्वर प्रार्थना या पूजा परक कर्मकाण्डो की उलटी पुलटी प्रक्रिया को उथले मन से उलट-पुलट ले। उतने से ही उस प्रयोजन की पूर्ति और कर्तव्य की इति श्री मान ली जाती है। यह देखा नही जाता कि जब शरीर को सजीव और समर्थ रखने के लिये इतना श्रम करना पडता है—जब मन मस्तिष्क के परिष्कार मे इतनी तत्परता बरतनी पडती है तो आत्मा जैसे महान तत्व की आवश्यकता पूर्ति एवम् प्रगति की व्यवस्था इतने स्वल्प साधनो मे कैसे हो सकती है ? अनावश्यक और महत्व हीन समझा जाने वाला पथ ही उपेक्षित रहता है इस दृष्टि से यदि कहा जाय कि हम आत्मा के स्वरूप और महत्व से अपरिचित है तो कुछ अत्युक्ति न होगी इन अपरिचितो मे पूजा-पाठ करने और न करने वाले लोग समान रूप से सम्मिलित है। इसे अपने आप के साथ एक निर्मम उपहास ही कहना चाहिए कि हम अपने अस्तित्व को ही भूल गये है और उसकी गरिमा उपयोगिता से नाता ही तोड बैठे है।

थोडी गहराई मे यदि विचार किया गया होता तो प्रतीत होता कि शरीर से बढ कर मन और मन से बढ कर आत्मा है। इन दोनो का सम्मि-

श्रण ही हम है। शरीर श्रम का उपार्जन सीमित और स्वल्प है पर परिष्कृत मस्तिष्क तो असीम कमाई कर सकता है। शरीर का एक अग नष्ट हो जाय तो भी काम चलता रह सकता है पर मस्तिष्क का एक पेच भी ढीला हो जाय पागलपन तनिक सा भी झलकने लगे तो आदमी अपने लिये और दूसरो के लिये मुसीवत खडी कर सकता है सुन्दर और स्वस्थ शरीर वाला जितना यशस्वी होता है ज्ञानवान उससे असख्य गुना और चिरस्थाई सम्मान प्राप्त करता है। इस खुले रहस्य को हर कोई जानता है। यदि शत्रु का सिर पर लाठी प्रहार हो तो हाथ अनायास ही ऊपर उठ जाते है और चोट अपने ऊपर लेकर मस्तिष्क को वचाने का प्रयत्न करते है। हमारी अन्त.चेतना जानती है कि हाथो का टूटना व सर फूटना इन दोनो मे किसका महत्व ज्यादा है।

इस सन्दर्भ मे एक कदम और आगे वढाने पर पता चल सकता है कि आत्मा का स्थान शरीर और मन से कम नही वरन् कही अधिक है। सच पूछा जाय तो मनुष्य का अस्तित्व आत्मा ही है। शरीर और मन उसके परिधान, वाहन, उपकरण मात्र है। शरीर के रुग्ण और मस्तिष्क के विकृत होने पर भी जीवन बना रह सकता है पर आत्मा के प्रयाण करने के बाद काय कलेवर की कुछ उपयोगिता नही रह जाती। उस मरी लाश की सडन और दुर्गन्ध से वचाने के लिये जल्दी से जल्दी ठिकाने लगाने का प्रवन्ध किया जाता है। शरीर मरते रहते है—मन वदलते रहते हैं पर आत्मा अनादि काल से अनन्त काल तक एक रस ही वना रहता है। हम वस्तुतः वही अवि-नाशी आत्मा हैं। आत्मस्वरूप को भूल कर—अपने को शरीर और मन समझा जाने लगा है। जिस प्रयोजन के लिये यह दोनो उपकरण मिले है उस तथ्य को विस्मृत कर दिया गया है और यह मान कर चला जा रहा है कि शरीर एवम् मन तक ही हमारी सत्ता सीमित है और उन्ही के लिये सुख-साधन जुटाने मे निरत रहना है। इसी उपहासास्पद अज्ञान का नाम 'माया' है। इस भटकाव मे पडा हुआ प्राणी अपना मूल्य भूल जाता है और उन लाभो—आनन्दो एवम् उपलब्धियो से व चित रह जाता है जो 'आत्म-वोध' होने की स्थिति मे प्राप्त हो सकते थे।

शरीर बल का अपना स्थान है और बुद्धि बल का अपना महत्व, पर इन दोनो की तुलना मे करोड गुना अधिक महत्त्व पूर्ण है आत्मबल । पंच तत्त्वो से बने इस कलेवर का मूल्य नगण्य है । दुर्घटना, बीमारी और मौत इस कलेवर को पानी के बुलबुले की तरह गला देते है । समुद्र की लहरो की तरह वह उठता और नष्ट होता रहता है । वस्त्रो की तरह वह जल्दी फटता और जीर्ण होता रहता है । घिसे हुए औजार की तरह बार-बार इसे बद-लना होता है । ऐसे कलेवर की सुसज्जा को ही लक्ष्य बना लिया जाय और आत्मोत्कर्ष के—आत्म-कल्याण के—आत्मानन्द के उद्देश्य को विस्मृत कर दिया जाय तो यह बुद्धिमान कहे जाने वाले मनुष्य की सबसे बडी अबुद्धिमत्ता ही होगी । खेद इसी बात का है कि लगभग समस्त मानव समाज इस आत्म प्रवचना मे सम्मोहित हुआ—मूर्छित बना पडा है ।

दूरदर्शिता का तकाजा यह है कि हम अपने स्वरूप और जीवन के प्रयोजन को समझे । शरीर और मन रूपी उपकरणो का उपयोग जाने और उन प्रयोजनो मे तत्पर रहे जिनके लिए प्राणि जगत का यह सर्वश्रेष्ठ शरीर—सुरदुर्लभ मानव जीवन उपलब्ध हुआ है । आत्मा वस्तुत परमात्मा का पवित्र अ श है । उसकी मूल प्रवृत्तियाँ वही है जो ईश्वर की । परमात्मा परम पवित्र है । श्रेष्ठतम उत्कृष्टताओ से परिपूर्ण है । उसका समस्त क्रिया कलाप लोक मङ्गल के लिए है । वह लेने की आकाक्षा से दूर—देने की—प्रेम की—उदात्त भावना से परिपूर्ण है । आत्मा को इसी स्तर का होना चाहिए और उसके क्रिया कलापो मे उसी प्रकार की गतिविधियो का समावेश होना चाहिए । परमेश्वर ने अपनी सृष्टि को सुन्दर, सुसज्जित, सुगन्धित और समुन्नत बनाने मे सहयोगी की तरह योगदान करने के लिये मानव प्राणी को अपने प्रतिनिधि के रूप मे सृजा है उसका चिन्तन और कर्त्तव्य इसी दिशा मे नियोजित रहना चाहिए । यही है आत्मबोध, यही है आत्मिक जीवन क्रम । इसी को अपनाकर हम अपने अवतरण की सार्थकता सिद्ध कर सकते है ।

यह सर्वथा अवाछनीय है कि हम अपने को शरीर एव मन मान बैठे और इन्ही की सुख-सुविधा और मर्जी जुटाने के लिये अनुचित मार्ग तक

अपनाने में न हिचके। पेट और प्रजनन मे प्रवृत्त पशु जीवन ही हो सकता है। वासना और तृष्णा की पूर्ति, ललक लिप्सा मे डूवा हुआ मनुष्य असुर ही कहा जायगा। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नही, उसे मोहान्ध और जिसे लक्ष्य मे रुचि नही उसे विक्षिप्त नही तो और क्या कहा जाय ? हम सब इन दिनो इसी दयनीय स्थिति मे रह रहे हैं और नारकीय शोक-सन्ताप सहन करते हुये जीवन की शव यात्रा सँजो रहे हैं। शरीरगत क्षणिक सुख के लिये–मनोगत, हास-परिहास के लिये जीवन सम्पदा को फुलझडी की तरह जलाने का वाल कौतुक किसी दूरदर्शी के लिये शोभा नही देता। अधर्म और अनर्थ जैसे क्रिया कलापो मे सलग्न रहकर चिर भविष्य को अन्धकारमय वना लेना समझदारी का चिह्न कैसे हो सकता है ? वाहन और उपकरणो मे तन्मय होकर अपने सर्वनाश को जो सँजो रहा है उसे क्या कहा जाय ? शरीर और मन की प्रसन्नता के लिये जिसने आत्म प्रयोजन का वलिदान कर दिया उससे वढ़ कर अभागा एवं दुर्बुद्धि और कौन हो सकता है ?

मूर्छितो की वात अलग है। यदि सचमुच कोई जीवित जाग्रत हो तो उसे अपनी गति-विधियो पर पुनर्विचार करना ही पडेगा और अन्धी भेडो की तरह जन-समूह जिस पथ भ्रष्ट गतिविधियो को अपनाये हुये है उससे विरत होना ही पडेगा। आत्मावलम्वी विवेक को अपना आधार वनाता है और दूरदर्शिता को सम्वल। वह दूसरो के पीछे नही चलता। अन्तकरण ही उसका मार्ग दर्शक होता है। ओछे लोग जिसे लाभ समझते हैं वह यदि विवेक की कसौटी पर हानि सिद्ध होती है तो विवेकवान व्यक्ति एकाकी निर्णय करता है और सत्पथ पर एकाकी चल पडता है। भले ही उन्मादियो की भीड़ उसका उपहास, असहयोग या विरोध करती रहे। ऐसा साहसवान शूरवीर ही पानी की धार को चीर कर चल सकने वाली मछली की तरह अपने भाग्य का आप निर्माण करता है वहाँ जा पहुँचता है जहा पहुँचने के लिये आत्मा अवतरण इस धरती पर हुआ है।

शरीर वल और मनोवल का अपना स्थान है। पर आत्मवल की गरिमा तो अनुपम है। आत्मवल अर्थात् ईश्वरीय वल अर्थात परमेश्वर की

परिधि मे आने वाली समस्त शक्तियो और वस्तुओ पर आधिपत्य। जिसने आत्मबल उपार्जित कर लिया उसे समग्र शक्ति का अवतार ही कहना चाहिए। सिद्ध पुरुषो की—ऋषियो की—ईश्वर भक्तो की–महामानवो की युग युगान्तर तक जीवित रहने वाली गुण गाथाये गा कर हम धन्य होते है। उनके चमत्कार हृदय को हुलसित कर देते है। उनके प्रकाशित और उनकी नाव मे चढ कर पार हुए असख्य प्राणियो के उद्धार की बात जब सामने आती है तब प्रतीत होता है कि ऐसे ही जीवन धन्य है। उन्ही का अवतरण सार्थक है। मनुष्यता ऐसे ही आत्मबल सम्पन्न महामानवो मे कृत कृत्य होती है।

यह आत्मबल उस साहसिकता की पृष्ठ भूमि पर विकसित होता है जिसमे अपने दोष-दुर्गुणो को खोज निकालने और उन्हे बहिष्कृत करने की उमङ्ग उठती है। शारीरिक क्रिया कलापो मे—मनोगत लिप्साओ मे, स्वभाव गत कुत्साओ मे जितना भी अवाछनीय तत्व है उनका उन्मूलन करने के लिये जो शौर्य सक्रिय होता है वह आत्मबल का प्रादुर्भाव है मनोगत दुष्प्रवृत्तियो का जितना परिशोधन होता चलता है उसी अनुपात से आत्म तेज निखरता चला जाता है। कहना न होगा कि यह ब्रह्मतेज—आकाश मे चमकने वाले सूर्य के प्रकाश से कम नही अधिक ही प्रभावशाली होता है। उसमे उस तेजस्वी आत्मा का ही नही–समस्त ससार का भी कल्याण होता है।

आत्मबल अभिवृद्धि का दूसरा चिह्न वहाँ देखा जा सकता है, जहाँ कोई व्यक्ति मोहान्ध जन समूह के परामर्शो और उदाहरणो को उपेक्षा के गर्त मे पटकता हुआ आदर्शवादी रीति-नीति अपनाने के लिये एकाकी चल पड़ता है। उत्कृष्टता का वरण करने के लिये सोचते ललचाते तो कितने ही रहते है पर आत्मबल के अभाव मे न किसी निर्णय पर पहुँचते है और न कोई कदम बढाने की हिम्मत करते है। स्वप्न भर देखते रहते है और दिन बिताते हुए, असफल मनोरथ रहते हुए–हाथ मलते हुए–प्रयाण करते है। आत्मबल सम्पन्न इस दयनीय दुर्गति से अपने आपको ऊँचा उठाता है और वह कर गुजरता है जिसे करने के लिये उसका अन्तरात्मा कहता, पुकारता, बुलाता और ललकारता है।

यह भली भाँति समझा जाना चाहिए कि आत्मा-परमात्मा का राज पुत्र है। उसके सम्मुख वे सभी सम्भावनाये प्रस्तुत है जो ईश्वर के हाथ मे हो सकती है। दोनो का सम्बन्ध विच्छेद जिस अज्ञानान्धकार के मायिक कलेवरने किया है उसी का अन्त करना साधना है । साधना का प्रयोजन ईश्वर का स्तवन उनकी खुशामद करना या पूजा की रिश्वत देकर फुसलाना नही वरन् उन कुत्साओ और कुण्ठाओ की जन्जीरो को काट डालना है जो जीव और ईश्वर के मिलने मे एक मात्र बाधा बनकर अडी खडी हैं।

अपने को जानें भव बन्धनों से छूटें

ससार मे जानने को बहुत कुछ है। पर सबसे महत्व पूर्ण जानकारी अपने आप के सम्बन्ध की है। उसे जान लेने पर बाकी जानकारियाँ प्राप्त करना सरल हो जाता है। ज्ञान का आरम्भ आत्मज्ञान से होता है, जो अपने को नही जानता वह दूसरो को क्या जानेगा।

अत्मज्ञान जहाँ कठिन है वहाँ सरल भी बहुत है। अन्य वस्तुयें दूर है व उनका सीधा सम्बन्ध भी अपने से नही है। किसीके द्वाराही ससार मे बिखरा हुआ ज्ञान पाया और जाना सकता है पर अपना आप सबसे निकट है, हम उसके अधिपति है—आदि से अन्त तक उसमे समाये हुए है, इस दृष्टि से आत्मज्ञान सबसे सरल भी है। शोध करने योग्य एक ही तथ्य है—आविष्कृत किये जाने योग्य एक ही चमत्कार है —वह है अपना—आपा। जिसे पाने के बाद और कुछ पाना शेष नही रह जाता।

बाहर की चीजो को ढूँढने मे मन इसलिए लगा रहता है, कि अपने ढूँढने के झँझट से बचा जा सके। क्योकि जिस स्थिति मे आज हम हैं उसमे अँधेरा दीखता है और अकेलापन। यह डरावनी स्थिति है। सुनसान को कौन पसन्द करता है। खालीपन किसे भाता है। अपने को इस विपन्न स्थिति से परक हैं, स्वय ही अपने को डरावना बना लिया है और उससे भयभीत होकर स्वयं ही भागते है। अपने को देखने खोजने और समझने की इच्छा इसी से

नही होती और मन वहलाने के लिए वाहर की चीजो को ढूँढते फिरते है कैसी है यह विडम्बना

क्या वस्तुत भीतर अँधेरा है ? क्या वस्तुत हम अकेले और सूने है ? नही प्रकाश का ज्योति-पुञ्ज अपने भीतर विद्यमान है और एक पूरा ससार ही अपने भीतर विराजमान है। उसे पाने और देखने के लिए आवश्यक है कि मुँह अपनी ओर हो। पीठ फेर लेने से तो सूर्य भी दिखाई नही पडता और हिमालय तथा समुद्र भी दीखना बन्द हो जाता है।और फिर अपनी पीठ करके खडे हो जाये तो शून्य के अतिरिक्त और दीखेगा भी क्या ?

वाहर केवल जड जगत है। पच भूतो का वना हुआ निर्जीव। वहिरग दृष्टि लेकर तो हम मात्र जडता ही देख सकेगे। अपना जो स्वरूप आँखो से दीखता है, कानो मे सुनाई पडता है जड है। ईश्वर को भी यदि वाहर देखा जायगा तो उसके रूप मे जडता या माया ही दृष्टिगोचर होगी। अन्दर जो है वही सत् है। उसे अन्तर्मुखी होकर देखना पडता है। आत्मा और उसके साथ साथ परमात्मा को देखने के लिए अन्त दृष्टि की आवश्यकता है। इस प्रयास मे अन्तर्मुखी हुए बिना काम नही चलता।

उसे भीतर से खोज निकालें । यही अन्वेपण की चरम मीमा है ।

दु:ख दारिद्रय, शोक, सन्ताप और अभाव उद्वेग का निवारण करने के लिए इन अनात्म तत्वो की अन्तरग मे जमी हुई जड़ो को खोदना पड़ेगा। भीतर का दीपक जलने पर ही वाहर फैले हुए अन्धकार का समाधान होगा जो कुछ हमारे लिए अभीष्ट और आवश्यक है उसकी समस्त सम्भावनाये अपने भीतर सुरक्षित रखी हुई हैं। आवश्यकता उन्हे प्रयोग करने की है। अपने आपे का प्रयोग करना यदि हमे आया होता तो हम दूसरे ईश्वर वन सकने मे समर्थ होते। अपने को खोकर हमने खोया ही खोया है । वाहर ढूँढने मे जीवन गँवा डाला पर मिला कुछ नही मिलता तव जव वाहर कुछ होता ।

अनात्म तत्वो की जो गन्दगी भर गई है उसे निकाल दें तो शेप वही रह जाता है जो हमारा स्वरूप है। कुछ पाने के लिए कुछ खोने के लिए तप साधन किये जाते हैं। आत्मा तो स्वय उपलब्ध ही है। उसे पाने के लिए कुछ करना नही करने की वात इतनी ही है कि जो अनुपयुक्त और अवाञ्छनीय अपने भीतर भर लिया है उसे निकाल कर फेंक दें। यह परिशोधन ही उपलब्धि का निमित्त वन जाता है।

किसी तत्ववेत्ता से जिज्ञासु ने पूछा—गुरुदेव तप साधना से आपने क्या पाया ? उन्होंने उत्तर दिया —खोया वहुत पाया कुछ नही। जिज्ञासु ने आश्चर्य से पूछा—ऐसा क्यों? ज्ञानी ने कहा —जो पाने लायक था वह तो पहले से ही प्राप्त था जो खोने लायक विपय, विकार और अज्ञान' अन्धकार के अनात्म तत्व भीतर घुसे पडे थे उन्हे साधना ने निकाला ः र है। इस तरह साधक—साधना मे खोता ही खोता है पाता कुछ नही हम स्वप्न खोते हैं तव सत्य पाते है।

रोवर गोड ल ने अपनी पुस्तक दी कन्टेन्योटेरी साइन्सेज एण्ड दी लिवरेटिव एक्सपीरियेन्स आफ योग मे लिखा है—'मनुष्य के यह जानने मे पहले कि वह वास्तव मे क्या है, अव तक केजाने हुए को भूलना होगा। वर्तमान नकारात्मक मान्यताओ के कारण मानव अपने भीतर स्थूल अहवाद के साथ जुडी हुई मिथ्या मान्यताओ से ही परचित हो पाया है। आत्मिक प्रगति के लिए हमे

आत्म-बोध का प्रशिक्षण आरम्भ मे ही करना होगा। क्योकि उन तथ्यो को जिन पर आत्मोन्नति निर्भर है एक प्रकार से हमने भुला ही दिया है।

कालिदास ने कहा है —अपने को जानने का प्रयत्न करो। अपने स्व-रूप को समझो और जिस लिये जन्मे हो उस पर विचार करो। तुम्हे दिशा मिलेगी और सहीदिशा मे कदम उठ गये तो वह प्राप्त करके रहोगे जिसके बिना अपूर्णता और अतृप्ति घेरे ही रहेगी।

स्वामी विवेकानन्द ने एक कथा सुनाई—एक तत्व ज्ञानी अपनी पत्नी से कह रहे थे सन्ध्या आने वाली है। काम समेट लो। एक सिह कुटी के पीछे यह सुन रहा था उसने समझा सन्ध्या कोई बडी शक्ति है जिससे डर कर सह निर्भय रहने वाले ज्ञानी भी अपना सामान समेटने को विवश हुए है। सिह चिन्ता मे डूब गया और सन्ध्या का डर सताने लगा।

पास के घाट का धोबी दिन छिपने पर अपने कपडे समेट कर गधे पर लाने की तैयारी करने लगा। देखा तो गधा गायब। उसे ढूँढने मे देर हो गई रात घिर आई और पानी बरसने लगा। धोबी को एक झाडी मे खडखडाहट सुनाई दी समझा गधा है। तो लाठी से उसे पीटने लगा—धूर्त यहाँ छिपकर बैठा है। सिह की पीठ पर लाठियाँ पडी तो उसने समझा यही सन्ध्या है सो डर से थर-थर काँपने लगा धोबी उसे घसीट लाया और कपडे लाद कर घर चल दिया। रास्ते मे एक दूसरा सिह मिला उसने अपने साथी की दुर्गति देखी तो पूछा—यह क्या हुआ ? तुम इस प्रकार लदे क्यो फिर रहे हो। सिह ने कहा—सन्ध्या के चगुल मे फँस गये है वह बुरी तरह पीटती है और इतना वजन लादती है।

सिह को कष्ट देने वाली सन्ध्या नही उसकी भ्रान्ति थी जिसके कारण धोबी को कोई बडा देव दानव समझ लिया गया और भार एव प्रहार बिना शिर हिलाये स्वीकार कर लिया गया। हमारी यही स्थिति है अपने वास्तविक स्वरूप को न समझने और ससार के साथ—जड पदार्थो के साथ अपने सम्बन्धो का ठीक तरह ताल-मेल न मिला सकने की गडबडी ने ही हमे उन

विपन्न परिस्थितियो मे धकेल दिया है जिनमे अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नही। इस भ्रान्ति को ही माया कहा गया है। माया को ही बन्धन कहा गया है और दुःखों का कारण बताया गया है। यह माया और कुछ नहीं वास्तविकता से अपरिचित रखने वाला अज्ञान ही है।

गीता मे माया की व्याख्या और प्रतिक्रिया समझाते हुए भगवान ने कहा है।

अज्ञानेनावृतम् ज्ञानम् तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

ज्ञान अज्ञान के द्वारा ढक दिया गया है, इस कारण सब प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं।

नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमाया समावृतः।

अपनी योग माया से ढके हुए होने के कारण मैं सबके लिए दृश्य नही हूँ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

तीन गुणो से युक्त इस मेरी माया को पार करना बडा कठिन है।

शरीर को आत्मा समझ बैठने—शरीर के सुख--दुःख, हानि-लाभ और संयोग-वियोग को आत्मा पर घटित हुई मान लेने से मनुष्य दुःखी होता है, उपलब्धियो की अपेक्षा यदि अपना ध्यान आत्मा के निर्मल निर्विकार स्वरूप मे बना रहे और जीवकोद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्तव्य कर्मो को करते रहने एव दिव्य विचारो मे रमण करने की प्रवृत्ति अपना ली जाय तो न दुःख की गुन्जायश रहे न शोक की। अपने को आत्मा बना इस ससार को परमेश्वर का स्वरूप मानकर परमात्मा के लिए आत्मा द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अनुदानो—कर्तव्य कर्मो को अपनाते हुए जीवन यात्रा पूरी करने लगे तो सारे दुःख दूर हो जाँय जिन्हे अज्ञता के कारण मायाबद्ध जीव पग-पग पर भुगतता रहता है।

आत्म परिष्कार से परब्रह्म की प्राप्ति

राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा—भगवन् यदि आपने-अपने

जीवन मे कुछ महत्वपूर्ण बाते सुनी हो तो कृपा कर उनका साराश मुझे बता दीजिए ।

उन्होने स्मरण करके पाँच अति महत्वपूर्ण बाते बताई और कहा—जीवन मे इन्ही तथ्यो को आधार मानकर आगे चला हूँ तुम भी यदि इन्हे ध्यान पूर्वक सुनो और हृदयगम करो तो कृतार्थ हो सकते हो ।

महर्षि ने बताया आचार्य शैलिनि ने उन्हे एक बार उपदेश दिया था कि—'वाक् ब्रह्म है । वाक् आयतन है । वाक् की प्रतिष्ठा का आधार आकाश है । अर्थात् यह वाणी परमात्मा का स्वरूप है । यह समस्त ससार वाणी से प्रकाशित होता है । जो कुछ इस ससार मे दिखाई पडता है—वाणी का प्रसाद है ।

भौतिक पदार्थों से लेकर परम आत्म-तत्व ब्रह्म तक की प्राप्ति हो सकती है। यह ससार प्राण के कारण ही जन्मा और गतिशील है। यहाँ सब कुछ प्राण से ही ओत-प्रोत है। प्राण के बिना जो शेष रह जाता है वह शून्य या अन्धकार रहता है। इस ससार मे उसी की प्रतिष्ठा है जो प्राणवान है। जो सुन्दर और सक्रिय दीखता है वह प्राण ही है। यदि वह न रहे तो यहाँ कुरूपता और नीरवता के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न देगा। देखने लायक केवल प्राण है। जो कुछ आकर्षक है उसे प्राण का प्रभाव ही कहना चाहिये।

विभूतियो और सिद्धियो का आधार वह प्राण ही है जिसे जीवन के रूप मे देखा जाता है, उसी को बल-पुरुषार्थ या पराक्रम कहते है। प्रयत्नो और उपक्रमो के अन्तरग मे जो कुछ समर्थ दीख पड़ता है—उसे साहस कहते है। यह प्राण ही विभिन्न प्रवृत्तियो के रूप मे पुरुषार्थ बनकर परिलक्षित होता है। इस क्षमता से रहित होने पर इस ससार मे सब कुछ होने पर भी—कुछ मिलता नही है। निष्प्राण मनुष्य मृतक ही है। जिसमे साहस नही उसे भी मृतक ही कहना चाहिये। जो जीवन रूपी सघर्ष मे अड़ा खड़ा रहता और कठिनाइयो को परास्त करने के लिये पराक्रम दिखाता है उससे साहस रूपी प्राण की ही प्रतिष्ठा होती है। प्राणवान् को ही लोक चाहता है और उसी का साथ देना तथा सहयोग करता है। मनुष्य का वैभव और आकर्षण उसके प्राण शक्ति के आधार पर घटता-बढ़ता रहता है। ब्रह्म की प्राप्ति परम पुरुषार्थ है इसे आत्मबल सम्पन्न लोग ही प्राप्त करते हैं। भौतिक सिद्धियाँ भी मनोबल सम्पन्नो को ही मिलती है। सो इस ससार तथा जीवन का सार इस प्राण रूपी साहस को ही समझना चाहिए।

जनक ने फिर पूछा—भगवन् ऐसा ही श्रेयस्कर उपदेश आपने कही अन्यत्र सुना हो तो कृपा कर उसे भी मुझे बता दीजिये।

याज्ञवल्क्य बोले—राजन् एक बार ऐसी ही महत्वपूर्ण शिक्षा मुझे आचार्य वर्कवार्ष्णि द्वारा प्राप्त हुई थी—उन्होने कहा था—यह चक्षु ब्रह्म है। इस विश्व मे चक्षु का ही आयतन है और इस आकाश मे चक्षु की ही प्रतिष्ठा

है। अर्थात् जो देखा जाता है, वही हमे प्रभावित करता है। जिसे हम देखते हैं वही प्रकाशित करता है। देखने से वस्तुओ का [illegible] और दृष्टिपात से कुरूप से सौन्दर्य और निर्जीव मे जीवन उत्पन्न होता है। यह ससार हमारी दृष्टि की ही प्रतिक्रिया है। जो कुछ प्रकाशित होता है वह दृष्टि-कोण ही है। देखने मे श्रेष्ठ मे निकृष्टता पैदा होती है और निकृष्ट श्रेष्ठ बन जाता है। दृष्टि ही प्रकाशवान सूर्य है और शान्तिदायक चन्द्रमा। [illegible] चक्षुओ को ब्रह्म ही मानना चाहिये।

इस ससार की सभी वस्तुए पच तत्वो से बनी होने के कारण निर्जीव है। न वे कुरूप है न सुन्दर न उनका उपयोग है न महत्ता। इन पदार्थों मे सौन्दर्य उत्पन्न करने और उन्हे आकर्षक उपयोगी बनाने का श्रेय अपने दृष्टि-कोण का ही है। जिनके गुण ढूँढे जाते है वह गुणवान प्रतीत होता है और जिसके दोष निहारने लगे वही अनुपयुक्त एव घृणास्पद लगता है। इन आँखो से ससार मे जो श्रेष्ठ है उसी को देखे समझे तो श्रेष्ठता बढती जाती है ससार सुन्दर लगता है। पर यदि निकृष्ट को देखने मे रुचि हो तो अपनी निकृष्टता बढेगी साथ ही यहाँ घुटन उत्पन्न करने वाला दुरित ही सर्वत्र फैला प्रतीत होगा। प्रतिष्ठा उसकी है जो प्यार और आत्मभाव की दृष्टि से देखना चाहते है, जिन आँखो मे करुणा, दया, क्षमा और पवित्रता दमकती रहती है वे किसी को भी प्रभावित कर सकती है। भावपूर्ण दृष्टिपात से सब कुछ सुखद प्रतीत होता है। यदि नेत्र न हो तो सर्वत्र अन्धकार ही है तब समस्त ससार का स्वरूप ही अस्त हो जायगा इसलिये इन नेत्रो को सूर्य चन्द्र भी कहते है। वे ही ब्रह्म भी है।

राजा की उत्सुकता बढती गई उन्होने अधीर हो कर फिर पूछा—ऋषिवर, ऐसा ही मार्मिक प्रवचन आपने किसी और तत्वज्ञानी से सुना हो तो उसे भी मुझ पर प्रकट करने का अनुग्रह कीजिये।

महर्षि को एक और प्रसग स्मरण आया और उनने कहा—जनक, एक बार ऐसा ही उपदेश मुझे आचार्य दिपीन भारद्वाज ने दिया था। उन्होने कहा था—यह श्रोत्र ही ब्रह्म है। कानो का ही इस विश्व मे आयतन है, कर्ण की

ही प्रतिष्ठा है। यह आकाश श्रोत्रि मे आच्छादित हो रहा है। अर्थात् जिस स्तर के शब्द हम सुनते हैं वैसे ही भाव उत्पन्न होते है वैसी ही प्रकृति बनती है और वैसे ही कर्म करना आरम्भ हो जाता है। इस ससार मे सभी प्रकार के भले-बुरे शब्दो का प्रवाह बहता रहता है। उनम से जिसकी कर्णेन्द्रिय श्रेय साधक वचनो का चयन करती है, मगलमय बातो को हो ग्रहण करती है उसे ब्रह्म की समीपता प्राप्त कराने वाला प्रकाश मिलता है। जो किसी के कहे अशुभ वचनो को ही याद रखते है। पतन की ओर आकर्षित करने वाले शब्दो मे रम लेते हैं, रुचि रखते है उनके लिये वे शब्द ही विघातक बन जाते है। जो श्रेष्ठ ही सुनता है तो प्रतिष्ठित होता है। यह आकाश सद्वाक्यो का श्रवण करके सन्मार्ग अपनाने वालो की गरिमा से ही भरा पडा है। सो श्रेष्ठता उत्पन्न करने वाले सद्वचन सुनने के अभ्यस्त यह कर्ण ही ब्रह्म है।

जनक की जिज्ञासा बढ़ती गई। उनने फिर इसी प्रकार पूछा और याज्ञवल्क्य को एक और घटना स्मरण आई जिसकी चर्चा करते हुये उन्होने कहा—तात, एक बार ऐसा ही ज्ञान मुझे आचार्य सत्यकाम जाबाल से मिला था—उन्होने मुझे बताया था—यह मन ही ब्रह्म है। यह ससार मन का ही आयतन है। यहाँ मन की ही प्रतिष्ठा है। अर्थात् मन की मान्यताओ के अनुरूप पदार्थो तथा व्यक्तियो का महत्व घटता-बढता है। मन मे जो इच्छा होती है उसी के अनुरूप चिन्तन तथा पुरुषार्थ चल पडता है और उसी दिशा मे प्रगति सभव कराने वाले साधन मिलते चले जाते हैं। मन से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छाये दिशा बनाती ही है और उस दिशा का अवलम्बन करके व्यक्ति अपनी रुचिकर स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

मनोबल की प्रबलता से कठिनाइयाँ सरल हो जाती है और मन मे शिथिलता आने से राई जैसी बात पहाड जैसी भारी हो जाती है। मन जैसा चाहता है वैसा ही सामने रहता है, जो चाहना की परिधि मे नही आता वह आँख से ओझल ही बना रहता है। मन जिसे चाहता है वह प्रिय लगता है और जो मन से उतर गया उसकी न सूरत सुहाती है न चर्चा यहाँ कुछ भी न प्रिय है न अप्रिय जिस पर मन छा जाता है वही सुन्दर लगता है वही श्रेष्ठ

वही काम्य, मन की उत्कृष्टता ही व्यक्ति को ऊँचा उठाती है और उसी के आधार पर सम्मान मिलता है। जो कुछ इस संसार में दीखता और सुहाता है वह अपना मन ही है। मन का विस्तार ही इस आकाश में विस्तृत हो रहा है। इसलिए यह मन ही ब्रह्म है। मन ही अपने शुद्ध स्वरूप में विकसित होकर ब्रह्म बन जाता है।

इतनी ज्ञान वर्धक शिक्षा सुनकर राजा जनक की उत्कण्ठा में और उभार आया और उन्होंने विनीत होकर पूछा—भगवान् उपलब्ध समस्त उपदेशों में आपने जो सर्व श्रेष्ठ सुना हो उसे और मुझे बता दीजिए। इतना सुनकर ही मैं तृप्त हो जाऊँगा— आगे आपको अधिक कष्ट न दूँगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य जनक की जिज्ञासा भरी उत्कण्ठा से बहुत प्रभावित हुए और उनके प्रसंग को समाप्त करते हुए बताया—राजन्, मुझे आचार्य विदग्ध शाकल्य का उपदेश सर्वश्रेष्ठ लगा। उनने कहा था—हृदय ही ब्रह्म है। इस आकाश में हृदय का आयतन भरा पड़ा है।

हृदय को ईश्वर का मन्दिर और आत्मा का निवास कहा गया है। धड़कने वाली रक्त की थैली को नहीं अन्तःकरण को अध्यात्म की भाषा में हृदय कहा गया है। हृदय अर्थात वह सूक्ष्म मर्मस्थल जहाँ उच्च आदर्शों की श्रद्धा विराजमान रहती है। जहाँ बैठा हुआ परमेश्वर सद्गुरु के रूप में उचित अनुचित का बोध कराता रहता है, और कुमार्ग से बचाने वाले सन्मार्ग पर चलने का संकेत करता रहता है। हृदय अर्थात आस्थाओं का वह केन्द्र जहाँ केवल सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों के हिमालय से निकलने वाली गंगा-यमुना की तरह दो धारायें अविच्छिन्न रूप से बहती रहती है। हृदय अर्थात [illegible] का वह स्रोत जहाँ कर्तव्य पर आरूढ़ रहने की दृढ़ता और [illegible] के चरणों पर समर्पण उमँगा रहती है।

[illegible] हृदय पवित्र है उसे अपवित्रता छू तक नहीं सकती। जिसका [illegible] है उसके लिये इस विश्व उपवन की शोभा नन्दनवन [illegible]। जिसने अपने हृदय को टटोला उसे ऋद्धि सिद्धियों का भरा [illegible] समाया मिल गया, जिसने हृदय को झाँका

उसने उसी मे आत्म साक्षात्कार का आनन्द लिया और प्रभु दर्शन का भी। स्वर्ग और मुक्ति का द्वार मनुष्य का हृदय ही है। जो हृदय की महिमा समझने और उसे समर्थ बनाने मे लग गया उसने जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। जो हृदय का अनुयायी है समस्त ससार उसी का अनुगमन करता है। यह आकाश हृदय की उपलब्धियो से ही गु जित प्रतिध्वनित हो रहा है। ससार मे अमर और अमिट प्रतिष्ठा उन्हे मिली जिन्होने अपने हृदय को विशाल बनाया और उसकी प्रेरणा से अपनी गतिविधियाँ निर्धारित की। अस्तु हृदय ही ब्रह्म है शतपथ ब्राह्मण १०।१२।६।४ मे—"हृदि प्रतिष्याकवयो मनीषा" वाक्य मे यह कहा गया है कि—प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु हृदय ही है। जीवन का स्वरूप निर्धारण करने का सारा श्रेय हृदय को ही है। वह जिस दिशा मे उन्मुख होता है, मन, बुद्धि. चित्त, अहकार से लेकर—दशो इन्द्रियाँ तक सारे साधनो समेत व्यक्तित्व का प्रवाह उसी दिशा मे चल पडता है। इस मर्म स्थान मे यदि असुरता का प्रवेश हो जाय तो मनुष्य की पिशाच प्रवृत्ति मे कमी नही रहती और यदि वहाँ भगवान् की प्रतिष्ठा यथावत् बनी रहे तो मनुष्य को देवता बनने मे देर नही लगती। जिसका हृदय सुप्त स्थिति मे पडा है वह बहुत सोचते और बहुत करते हुए भी कोल्हू के बैल की तरह निरर्थक विडम्बनाओ मे उलझा हुआ जीवन के दिन काटता रहता है।

हृदय का महत्व और स्थान सर्वोपरि है। उत्कृष्टताके प्रति श्रद्धा आदर्शो के प्रति निष्ठा का उद्गम हृदय है। इस हृदय को निर्मल और परिष्कृत बनाने वाला पूर्णता को प्राप्त करता है। उसी का आत्मा परमात्मा का दर्शन करने और परब्रह्म को प्राप्त करने मे सफल होता है।

आत्मा, महात्मा और परमात्मा का विकास क्रम

महात्मा वह है जिसके सामान्य शरीर मे असामान्य आत्म निवास करता है। काया की वेश भूषा और चित्र विचित्र आवरणो का धारण महात्मा होने का न तो आधार है और न लक्षण। सामान्य वेष और

सामान्य रहन-सहन के बीच आत्मा के स्तर तक पहुँचाया जाना सम्भव है और पहुँचाया जाता भी रहा है।

मर्यादाओं से आबद्ध रह कर नागरिक कर्तव्यों का पालन करते रहना उद्धत आचरणों से बचना, शील और सौजन्य को निबाहना यह मनुष्यता का आवश्यक उत्तर दायित्व है। जिन्होंने अपने भीतर आत्मा को समझा है और उसकी गौरव गरिमा को ध्यान में रखा है उसे संयम, सदाचार और कर्तव्य निष्ठा से जुड़ा हुआ शालीन जीवन जीना ही पड़ेगा।

महात्मा की गरिमा इससे अगली मंजिल है। महान का अर्थ है विशाल व्यापक। जो आत्मा अपने शारीरिक मानसिक और पारिवारिक कर्तव्यों से आगे बढ़ कर विश्व मानव के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अग्रसर होता है मानवीय कर्तव्यों से आगे के देव कर्तव्यों को वहन करने के लिए तत्पर होता है वह महात्मा है। महात्मा अपने लिए नहीं सोचता, विराट के लिए सोचता है, अपने लिए नहीं करता, विराट् के लिये करता है—अपने लिए जीवित नहीं रहता, विराट् के लिए जीता है।

अपना शरीर हर छिद्र से मलीनता निस्रत करता है। पर इसलिए कौन उसे घृणास्पद और त्याज्य ठहराता है कि इसमें गन्दगी विद्यमान है। घृणा की आवश्यकता नहीं समझी जाती और शरीर को स्वच्छ करने पर ही ध्यान रहता है। अपनी ही तरह दूसरों की विविध मलीनताओं के रहते जो [illegible], घृणास्पद, पतित और त्याज्य नहीं ठहराता वरन् अपनी सहज ममता से प्रेरित होकर उसे निर्मल बनानेका श्रम करता है, वह महात्मा है। अपना छोटा बच्चा दिनभर गलती करता रहता है, उसका बहिष्कार नहीं करते और देख [illegible], [illegible] [illegible] तोड़-फोड़ के अवसरों की रोक थाम करके जितना [illegible] होता है उस [illegible] का बचाव करते हैं। इस पर भी जो हानि होती [illegible] उसे सहन करते हैं। छोटे बालकों और अभिभावकों के बीच यह [illegible] आ रहा है। दिग्भ्रान्त जन समाज के अनाचरणों के [illegible] किये बिना [illegible] धैर्य और शान्ति पूर्वक विग्रह की रोक [illegible] उस उदारमना व्यक्ति को महात्मा कहना चाहिए।

हम अपने और अपने प्रियजनों के दु खों मे दु खी होते है। इस क्षेत्र में सुख संवर्धन का प्रयत्न करते है। हमे अपना सुख, यश, वैभव, उत्कर्ष प्रिय लगता है और जिन्हे अपना समझते हैं उन्हे भी इसी सुखद स्थिति मे रखने के लिए प्रयत्न करते है, यह परिधि जब बड़ी हो जाती है और प्यार दुलार का, ममता आत्मीयता का क्षेत्र बढ जाता है तो वैसी ही अनुभूति हर किसी के साथ जुड जाती है। दूसरो का कष्ट अपना कष्ट लगता है, अपने को सुखी बनाने के लिये जिस प्रकार अपना स्वभाव और चिन्तन सक्रिय रहता है वैसी ही सक्रियता यदि जन साधारण के लिये विकसित हो चले तो समझना चाहिए कि आत्मा ने महात्मा का रूप धारण कर लिया। परायो मे जब अपना पन प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि दिव्य नेत्र खुल गये। जिसका अह ता ग्रीष्म की हिम बन कर पिघल जाय, जो पवन जैसा सक्रिय और आकाश जैसा शान्त दिखाई पडे समझना चाहिये यह महात्मा का ही विग्रह है।

जब तक स्व, पर का ऊहा पोह चलता रहता है तब तक आत्मा और महात्मा का प्रेम प्रसग आदान प्रदान, परिहास, मनुहार चल रहा समझा जाना चाहिये। जब द्वैत की समाप्ति होजाय और केवल एक ही शेष रहे स्व, पर का अन्तर सोचने की गुन्जायश ही न रहे तब समझना चाहिए उसी काय कलेवर मे परमात्मा का अवतार होगया।

समग्र अध्यात्म,-प्रेम ज्ञान और बल का समन्वय

अध्यात्म की त्रिवेणी तीन धाराओ मे प्रवाहित होती है (१) प्रेम (२)ज्ञान, (३)बल। इन तीनो का सन्तुलित अभिवर्धन करने से ही कोई समग्र अध्यात्मवादी हो सकता है।

प्रेम हमारे अन्त.करण का अमृत है। जिस प्रकार हम अपने स्वार्थ, सुख, यश, वैभव और उत्सर्ग को चाहते है उसी प्रकार दूसरो के लिए भी चाहना उठने लगे तो उसे प्रेम का प्रकाश कहना चाहिए। अपनापन ही सबसे अधिक प्रिय है। अपने शरीर मन, यश,सुख की चाहना रहती है। यह अपना आपा जितना विस्तृत होता चलेगा वह उतना ही प्रिय लगेगा और उसे सुखी

समुन्नत बनाने की उतनी ही तीव्र उत्कंठा उठती। [illegible] प्यारा लगता है इसी तरह यह आत्मीयता की परिधि [illegible] और अपना 'प्रिय' क्षेत्र बढ़ता चला जाता है। [illegible] करने की इच्छा होती है और सत्कर्म ही बनते हैं। इनके [illegible] कौन करता है। प्रेम भावना की वृद्धि मन में से सभी दुष्प्रवृत्तियों को [illegible] देती है और मनुष्य सज्जन और सच्चरित्र एवं उदार बनता चला जाता है। प्रेम असंख्य सद्गुणों का स्रोत है इसलिये उसे अध्यात्म का [illegible] माना गया है।

दूसरा घटक है—ज्ञान। यथार्थ को समझना ही सत्य है। इसी को विवेक कहते हैं। जीवन के लक्ष्य को हम भूल जाते हैं, आत्मकल्याण की बात विस्मृत हो जाती है और कर्त्तव्य धर्म का पालन करने की गरिमा समझ में नहीं आती। इन्द्रियों की वासना और मन की तृष्णा पूरी करने के लिए—अहंकार की पूर्ति के लिये निरर्थक कार्य करते हुए जीवन बीत जाता है और पाप की गठरी सिर पर लद जाती है। यह सब अज्ञान का फल है। अपने को शरीर नहीं आत्मा मानकर चले। आत्मकल्याण की दृष्टि से जीवन क्रम निर्धारित करे और वासना तृष्णा को अनियन्त्रित न होने दे। अहङ्कार के स्थान पर आत्मबल बढ़ाने में लगे तो समझना चाहिए ज्ञान की उपलब्धि हो गई। स्कूली शिक्षा या धर्म पुस्तकें पढ़ लेने का नाम ज्ञान नहीं है। यह तो गहन आस्था है जो अन्तःकरण में प्रकाशवान होकर सही और गलत का विवेक कराती है। यह ज्ञान जो जितना प्राप्त कर लेता है वह उतना ही सफल आत्मज्ञानी कहा जाता है।

तीसरा चरण है—बल। निर्बल को न साँसारिक सुख मिलता है न शान्ति। हमें बलवान बनना चाहिए। मनोबल के आधार पर ही आपत्तियों से निपटना—प्रगति के पथ पर बढ़ चलना सम्भव होता है। लोभ, मोह जैसे [illegible] का सामना करते हुए—प्रलोभनों से बचते हुए आदर्शवादिता के मार्ग [illegible] कठिनाइयों को तोड़ सकना साहसी और पराक्रमी व्यक्ति के लिए ही

सकता है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र सामर्थ्यवान और सशक्त बनाना पड़ता है। आत्मिक, मानसिक, शारीरिक सभी दुर्बलताएँ दूर करनी पड़ती है और आर्थिक क्षेत्र में इतना स्वावलम्बी रहना पड़ता है कि किसी के आगे हाथ न पसारना पड़े।

मनुष्य की सत्ता तीन भागो मे विभक्त है (१)अन्तःकरण (२)मस्तिष्क (३)शरीर। इसी विभाजन को अध्यात्म की भाषा में कारण शरीर और स्थूल शरीर कहते हैं। अन्तःकरण का वैभव है–प्रेम। मस्तिष्क का धन है—ज्ञान। शरीर का वर्चस्व है—बल। चूँकि शरीर मे ही आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध है इसलिए धन, व्यवहार कौशल और संगठन को भी इसी क्षेत्र मे गिना जाता है।

इन तीनो के समन्वय से ही समग्र अध्यात्म बनता है एकाङ्गी से काम नही चलता। अन्न, जल और वायु के त्रिविध आहार पर जीवन निर्भर है। अध्यात्मिक जीवन की यह तीनो प्रवृत्तियाँ समान रूप से आवश्यक है। इनका समन्वय ही त्रिवेणी का सङ्गम है। उस तीर्थराज प्रयाग मे स्नान करके ही हम जीवन लक्ष को प्राप्त कर सकते है।

आदर्श गुरु-शिष्य परम्परा फिर जागे ?

तैत्तिरीय उपनिषद् मे "मातृदेवो भव.", "पितृ देवो भव" के साथ "आचार्य देवो भव" कह कर गुरु का महत्व माता-पिता के तुल्य बताया है। इतना ही नही अनेक स्थानो पर तो "गुरु साक्षात् परब्रह्म" कह कर उसकी सर्वोपरिता को भी स्वीकार किया गया है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है। बालक के पालन पोषण का कार्य माता-पिता करते है किन्तु उसे सस्कारवान बनाकर सुसभ्य नागरिक बनाना आचार्य की जिम्मेदारी है। इस महान् उत्तरदायित्व के कारण ही गुरु मनुष्य-समाज का देवता है। उसकी महत्ता पर जितना लिखा जाय उतना कम है।

प्रचीन पद्धति के अनुसार जैसे ही बालक की बुद्धि का विकास प्रारम्भ हो उसे योग्य गुरु को सौंप देने का विधान है। गुरुकुल प्रणाली मे

विद्यार्थी पूर्ण शिक्षित होने तक अपने गुरु के समीप रहकर जहाँ वस्तुतः भाषा बोध, व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन करते थे वहाँ उन्हें चरित्र, सदाचरण, पवित्रता, आन्तरिक निर्मलता, अतिथि-सेवा, भ्रातृ-भावना, सहयोग, सहानुभति, परदुःख कातरता और परोपकार की शिक्षा दी जाती थी। मानसिक प्रौढता, विचारशक्ति, उत्तम स्वास्थ्य और शुद्ध जीवन लेकर स्नातक जिस क्षेत्र मे प्रवेश करते थे उसी मे सत्य को प्रतिस्थापित कर योग्य नागरिक कहलाने का श्रेय प्राप्त करते थे। जो अपने चरित्र और विद्वता की कसौटी पर कस कर पूर्णता प्राप्त कर लेते थे शिक्षा का गुरुतर कार्य उन्हीं को सौंपा जाता था। ताकि वे विद्यार्थियो को अक्षर ज्ञान के साथ सद्गुणों की क्रियात्मक शिक्षा भी दे सके। इसके लिये वे पहले अपने उदात्त चरित्र की परीक्षा देते थे। जिनमे विद्यार्थियों के चरित्र और ज्ञान को परिपक्व बनाने की, उनके मन और जीवन को सत्प्रेरणायें देकर उत्कृष्ट बनाने की क्षमता होती थी उन्हे ही आचार्यत्व का गौरवपूर्ण पद प्राप्त होता था। श्रेष्ठ चरित्र की आधारशिला पर विनिर्मित बालको का जीवन भी तब भव्य और भला बनता था।

आज गुरु की आज्ञाओ का पालन करना तथा उनकी सेवा करना प्रतिगामिता का चिन्ह समझा जाता है। शिक्षा के क्षेत्र मे भौतिक शिक्षा-पद्धति का पूर्णतया प्रचलन होने से अब शिक्षक भी वैसे निष्ठावान नही रहे। शिक्षको का कार्य पाठ्य विषय को किसी तरह प्रतिपादित करके समझा देना और विद्यार्थियो ने शिक्षा का उद्देश्य केवल प्रमाण-पत्र पा लेना समझ लिया है। शिक्षा के क्षेत्र मे श्रद्धा प्राय विलुप्त है और सभी ओर अनुशासन-विहीनता ही दृष्टिगोचर हो रही है। व्यवहारिक ज्ञान की शिक्षा देने का कोई प्रयोजन नही रह गया। नागरिक जीवन मे प्रवेश पाने तक बालको मे इस कारण से न तो बौद्धिक आत्म-निर्भरता आ पाती है और न वे जीवन के सदुद्देश्य को ही समझ पाते है। सामाजिक जीवन जो अस्त-व्यस्त हो रहा है वह इसी के कारण है।

गुरु की महत्ता शिक्षा और गुणो तक ही सीमित नही है। सही ज्ञान

का दिग्दर्शन कराना उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। मनुष्य ससार की अनेक समृद्धियाँ प्राप्त कर ले, सुख और सुविधाओ की किसी तरह की कमी न हो तो भी उनके शान्तिमय जीवन की कल्पना नही की जा सकती। इस सृष्टि के "कारण" और "उद्देश्य" को समझे बिना शाश्वत आनन्द की अनुभूति नही होती। यह ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का मूल उद्देश्य है। विद्यार्थी जीवन मे मनुष्य की बुद्धि कोमल और ग्रहणशील होती है अत. श्रेष्ठ सस्कारों के बीज उनमें डालना इस समय आवश्यक होता है। ब्रह्म सूत्र का प्रथम सूत्र–'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'—विद्यार्थी के मन की ज्ञान पिपासा को प्रकट करता है। विश्व की रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझा कर परम सत्य की खोज करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य भी है। लक्ष्य पूर्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती है। साधना अनुभवी पथ-प्रदर्शक की देख रेख मे ही सम्पन्न हो सकती है। गुरु शब्द में " ब्रह्म विद्या " का बोध होता है। साधना और " ब्रह्म विद्या" के निष्णात आचार्य यह समझते थे कि साधना काल मे साधक के जीवन मे जो मोड और परिवर्तन लाने होते हैं उसके लिये विद्यार्थी जीवन सब से उचित है। इस समय मस्तिष्क मे श्रद्धा और विश्वास अधिक होता है किन्तु मानसिक परिपक्वता प्राप्त कर लेने के बाद लोगो के विचार और सस्कारो को बदलना कठिन हो जाता है। इस के लिए अधिक शक्ति, समय और श्रम लगा कर भी परिणाम थोडे ही निकलते हैं। विद्यार्थी जीवन मे बुद्धि का उदय होता है इसलिए उसमे आसानी से श्रद्धा उत्पन्न करके ब्रह्मतत्व की ओर प्रेरित किया जा सकता है। इस बात को भारतीय आचार्यों ने गहराई तक समझ लिया था इसीलिए जीवन के प्रारम्भ मे ही शिक्षा के साथ साधना का समन्वय किया गया था।

गुरु के सान्निध्य मे रह कर शिष्य साधना का तेजस्वी जीवन बिताते थे। तपोनिष्ठ होने से उनका शरीर स्वर्ण जैसा देदीप्यवान् होता था। ससार की कठिनाइयो मे सघर्ष करने की उनमे शक्ति होती थी। वार्तालाप विवेचन, विश्लेषण और विचार-विनिमय के द्वारा उनमे गम्भीर चिंतन की प्रवृत्ति जागती थी। साधना और स्वाध्याय के सम्मिश्रण से उनको आत्म-ज्ञान

की अनुभूति हो जाती थी। विद्यार्थी केवल गुण-पुंज या ज्ञान पुंज ही नहीं। शक्ति-पुंज होकर भी निकलते थे। फलस्वरूप उन्हें भौतिक सुखों की कोई आकांक्षा न होती थी तब वे अधिकार नहीं कर्तव्य माँगते थे। सेवा को वे व्रत समझते थे। साहस और कर्मठता उनमें कूट कूट कर भरी होती थी। मनुष्य शरीर के रूप मे उनमे स्वयं देवत्व निवास करता था। ऐसे मेधावी पुरुषों से यह भारत भूमि भरी पूरी थी। यहाँ सुख और समृद्धि की वर्षा हुआ करती थी।

गुरु के समीप रह कर जहाँ शिष्य इस तरह की ओजस्विता धारण करते थे वहाँ गुरु-विहीन पुरुषों की भर्त्सना भी होती थी। 'निगुरा' शब्द एक तरह की गाली समझी जाती थी। इसे एक तरह का सामाजिक अपराध समझा जाता था। माता-पिता पहले ही यह व्यवस्था बना लेते थे कि बालक को किसी आचारवान् तथा गुणवान गुरु के समीप भेज देना चाहिये। इससे वे अपने बालकों को गुरु-विहीन होने के अपराध से बचा लेते थे।

ज्ञानवान् तथा बुद्धिमान् आचार्यों के मार्ग-दर्शन में रहकर जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण शिक्षा इस देश के नागरिकों ने पाई थी, इसी से वे अपने ज्ञान संस्कृति और सभ्यता को प्रकाशित रख सके। गुरुकुलों के रूप में न सही, उतने व्यापक क्षेत्र में भी भले ही न हो किन्तु यह परम्परा अभी पूर्णरूप से मृत नहीं हुई है। आज भी ब्रह्म विद्या के जानकार आचार्य और "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के जिज्ञासु शिष्य यहाँ विद्यमान हैं किन्तु उनकी संख्या इतनी कम है कि वे किसी तरह लोक-जीवन में प्रकाश उत्पन्न नहीं कर पा रहे। फिर भी संतोष यह है कि 'गुरु-गौरव' अभी भी यहाँ सुरक्षित है और उसका पूर्ण विकास भी संभव है। इसमें कुछ देर भले ही लगे किन्तु आत्मा की ज्ञान— पिपासा को अधिक दिन तक भुलाया नहीं जा सकता। उसके जागने का समय अब नजदीक आ पहुँचा है।

अब हमें फिर से विचार करना पड़ेगा कि पाश्चात्य प्रणाली पर आधारित आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं में जो व्यवस्था चल रही है उसमें क्या [illegible] जीवन की समस्यायें पूरी होती हैं? आज की शिक्षा का एक मात्र

उद्देश्य अर्थ-प्राप्ति और कामोपभोग रह गया है। जीवन निर्माण तथा राष्ट्र के उत्थान के लिए ऐसी शिक्षा से कोई लाभ नही हो सकता। विद्यार्थी जीवन मे ब्रह्मचर्य, तत्परता और संयम भावना जागृत करने की आवश्यकता है। इसके लिये गुरु-शिष्यो के सम्बन्धो मे अनुशासन का भाव पैदा करना आवश्यक है।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्व प्रथम योग्य, विचारवान्, दृढ चरित्र तथा ब्रह्मवेत्ता अध्यापको को ढूँढ निकालना पडेगा। शिक्षा की नीव जब तक चरित्रवान् व्यक्तियो के हाथो मे नही पडेगी तब तक जातीय-विकास की समस्या हल न होगी। जो स्वय प्रकाश फैलाने वाला है यदि वही अँधेरे मे ठोकर खा कर गिरे तो दूसरो को वह उजाला क्या देगा ? राष्ट्र को ज्ञानवान् प्रकाशवान तथा शक्तिवान बनाने के लिए गुरु और शिष्य परम्परा का सुधार नितान्त आवश्यक है। लोक-जीवन मे विकास की समस्या इसके बिना कभी भी पूरी न होगी।

गुरु प्रदत्त शिक्षा-पद्धति की विशेषता

"मै पृथ्वी का पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है। मेरा जीवन मातृभूमि की सेवा मे अर्पण रहेगा। लोक कल्याण की सेवा के लिये समर्पित रहेगा। मैं सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान और शक्ति से उद्दीप्त रखूँगा। गुरुदेव द्वारा प्रदत्त शक्ति से मैं अपने राष्ट्र को जीवित और जागृत रखूँगा। मेरे जीवित रहने तक मेरे धर्म और संस्कृति को आँच नही आने पायेगी।"

तब के २५ वर्षीय स्नातक की, जो गुरुकुल से विदा होने पर उपरोक्त प्रकार की प्रतिज्ञा लेता था, बौद्धिक प्रतिभा, उदात्त भावना और उच्चतम आध्यात्मिक संस्कारो का पता इस एक ही वाक्य से चल जाता है। यह विशेषता स्नातको की अपनी नही होती थी, वरन् उन्हे गुरुकुल विद्यालयो के वातावरण मे इस प्रकार ढाला जाता था। श्रेय प्राचीन गुरुकुलो और आचार्यो को है जिनकी शिक्षा-पद्धति ऐसी थी जो मनुष्य का न केवल आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के, दार्शनिक और तात्विक ज्ञान से ओत-प्रोत बनाती

थी वरन् उनमे ऐसी शक्ति और प्रतिभा का भी विकास करती थी जो अपने को ही नहीं सारे समाज को ऊर्ध्वगामी बनाये रखने मे समर्थ होती थी।

आज की टूटी-फूटी लकीर मे चल रहे ऐसे विद्यालयो मे छात्रो के सादे जीवन, सरल वेष-भूषा को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि गुरुकुलीय शिक्षा विद्यार्थियो को कमजोर बनाती है किन्तु यह निरी विडम्बना मात्र है। गुरुकुल के छात्रो मे वह गम्भीर शक्ति होती थी जिसे सम्भवत आज का निर्बल छात्र वहन करने मे भी समर्थ न हो। जिन्हे इस प्रकार के शिक्षण की एक किरण का भी अनुमान है वे उसकी तेजस्विता और प्रखरता से भी अनभिज्ञ नही हो सकते।

पाणिनि की तरह व्याकरण, पातजलि की तरह योग, चरक और सुश्रुत की तरह औषधि-शास्त्र, मनु, याज्ञवल्क्य आदि के सविधानो मे अत्यन्त सूक्ष्म तत्वज्ञान और बौद्धिक शक्तियो का अवतरण हुआ है। गुरुकुलो मे आरण्यक और उपनिषदो की रचना हुई। उपपुराण और पुराण लिखे गये। गुरुकुलो मे आविष्कृत ज्ञान का सहारा लेकर आज पाश्चात्य देश छोटे-छोटे खिलौने उडा रहे है।

हमारा बौद्धिक ज्ञान उससे भी विलक्षण और परिपूर्ण रहा है। बिन्दु मे सिन्धु, राई मे पर्वत, अणु मे विभु का साक्षात्कार यदि किसी की समझ मे न चढे, सत्यता मे सन्देह हो तो भी स्वामी विवेकानन्द के शब्दो मे—"इतनी उच्च कल्पना भी ससार मे कोई नही कर सका।" हमने परमानन्द को स्वर्ग से उतार कर अपनी जन्मभूमि मे रख दिया। हम बडे गर्व से कहते है ईश्वर मेरा है, मेरे भारतवर्ष का है। यह कोई विक्षिप्तता नही, तादात्म्य की सही रूप रेखा है। इस देश के सकल्प बल के आगे देवता तो क्या परमात्मा को भी नत-मस्तक होना पडा है।"

फिर कौन कह सकता है कि हमारी सस्कृति और शिक्षा-पद्धति [illegible]। यह तो हमारे आध्यात्मिक अभ्युत्थान, ज्ञान-गरिमा का सक्षिप्त [illegible] के द्वारा यहा का जन-जीवन अविद्या रूपी आवरण का अव-

सारण कर जीवन मुक्ति का आनन्द लिया करता था। शारीरिक और सामाजिक शक्ति समृद्धता मे भी हम किसी से पीछे नही रहे।

विज्ञान इतना आगे बढ चुका है पर अभी महाभारत काल जैसे भी इच्छा-चालित शस्त्र और आग्नेयास्त्र नही बन पाये। शारीरिक शक्तियो की प्रौढता के बारे मे तो कहना ही क्या ? शान्त तपोभूमियो के वातारण मे रहने वाले परिश्रमी बालको के मुख जिस तेज से दमदमाया करते थे आज उसकी कल्पना भी किसी चेहरे पर नही झाँकती। पीले और निचोडे विद्यार्थी ही इधर-उधर डोलते दिखाई देते है। १०० वर्ष तक १०० वसन्तो का आनन्द लेने की शारीरिक क्षमता का निर्माण भी गुरुकुलो मे ही होता था।

जहाँ स्वार्थ नही परमार्थ को पूजा जाता था, अनात्म नही आत्मवत् सर्व भूतेषु की प्रतिष्ठा थी वहाँ—"जिमि सुख सम्पति बिनहिं बुलाये। धर्मशील पहँ जाहि सुहाये" वाली कहावत चरितार्थ होती थी। इस तरह का सर्वाङ्ग पूर्ण व्यक्तित्व और वातावरण बनाने मे नीव का काम गुरुकुलो मे होता था। समाज की सम्पूर्ण समृद्धि और सुव्यवस्था का कारण वह शिक्षा पद्धति थी जो आचार्यो के संरक्षण में रखकर किशोरो को दिलाई जाती थी।

विद्यार्थियो को इन मे राष्ट्र सेवा और जन सेवा की, संयम और नियमपूर्वक त्याग एव तप पूर्ण जीवन जीने की, आचार्य, अतिथि, माता-पिता और भाई के प्रति आदर और श्रद्धा की उच्च भावना रखने की शिक्षा दी जाती थी। सादा जीवन और उच्च चिन्तन यद्यपि उनका आदर्श रहता था, पर ज्ञान और शक्ति के जगमगाते सूर्य ही हुआ करते थे तब के विद्यार्थी। साँचे मे ढाले हुए यही बालक—जब गृहस्थ धर्म को सँभालते थे तो वहाँ भी सुख और सौभाग्य का स्वर्ग उपस्थिति कर देते थे।

शिक्षा का जीवन से पूर्ण सम्बन्ध था। व्यक्ति के अज्ञान किवा अविद्या के नाश के अतिरिक्त उसके गुण, कर्म, स्वभाव आचार-विचार दृष्टिकोण, बल, विवेक, चातुर्य तथा शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ्य का विकास अर्थात सर्व-शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व का विकास हमारे गुरुकुलो मे दी जाने वाली शिक्षा

का उद्देश्य होता था। उस शिक्षा पद्धति की उपयोगिता और व्यावहारिकता का तो कहना ही क्या ?

आज का विद्यार्थी अस्त-व्यस्त है। न उसकी शारीरिक शक्ति प्रखर है न बौद्धिक। स्कूल से निकलते ही वह अनुशासनहीनता, चारित्रिक पतन मनोविकारो का बोझ और कन्धे पर डाल लेता है। फिर वह गृहस्थ मे प्रवेश करता है तो वहाँ भी कलह, क्रूरता, स्वेच्छाचारिता, आनन्द … के अतिरिक्त कोई नया जीवन नही जगा पाता। हो भी कैसे सकता है कमजोर नीव पर खडा मकान आखिर कमजोर ही हो सकता है।

जो शिक्षा शिक्षार्थी को अपना ही ज्ञान नही करा सकती, जीवन की समस्याओ का सम्यक बोध नही करा सकती उसमे चाहे इतिहास पढाया जाय अथवा नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, शरीर या जीव विज्ञान, वह कभी उपयोगी नही हो सकती। मनुष्य अपने आप मे आध्यात्मिक तथ्य और सत्य है जब तक उसकी शिक्षा पद्धति मे आध्यात्मिकता की नीव नही पडती तब तक वह शिक्षार्थी को उसके वास्तविक लक्ष्य तक नही पहुँचा सकती। उल्टे गडबडी ही पैदा कर सकती है। बन्दर के हाथ तलवार दे देने जैसी परिस्थिति आज सर्वत्र बन रही है। बुराइयो के साथ बढी हुई बौद्धिक शक्ति से विनाशकारी परिस्थितियो का ही निर्माण हो सकता है? सो वही आज हो भी रहा है।

यह स्थिति आज सबके सामने है। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है—"क्या हमारी शिक्षा पद्धति उपयुक्त है?" कोई भी विचारशील व्यक्ति यह मानने को तैयार नही होगा। तब फिर वही पीछे लौटने की बात याद आती है। वही शिक्षा हमारे काम आ सकती है जो हमारे शरीर मन और बौद्धिक सन्थान को ज्ञान और शक्ति से प्रखर बना सके और इस प्रकार के … , उच्च भावना जगा सके जिससे विद्यार्थी अपनी ही नही अपने … के उत्थान की बात सोच सके। वह गर्व से कह सके—'मातृ भूमि … पृथ्वी का पुत्र हूँ भूमि मेरी माता है।" यह केवल प्राचीन शिक्षा … से ही सम्भव है।। समय आ गया है जब हमें उस पुन

जागना पड़ेगा। अपने गुरुकुलो को पुनः प्रतिष्ठित और प्रसारित करना होगा।

शिक्षक और शिक्षार्थियों के सम्बन्ध

भारत की भावी पीढी को अनुशासित, विनम्र तथा सुयोग्य बनाने के लिए आवश्यक है कि उनमे अपने शिक्षको के प्रति आदर एवम् श्रद्धा का भाव बढाया जाये। शिक्षको तथा शिक्षार्थियो के बीच दिन-दिन बिगडते जा रहे सम्बन्धो मे जो तत्त्व काम कर रहा है वह अश्रद्धा की भावना ही है जो विद्यार्थियो मे अपने शिक्षको के प्रति बढती जा रही है। इस अश्रद्धा के जहाँ अनेक अन्य कारण है वहाँ कुछ अभिभावको की भूल तथा उदासीनता भी है। यदि वे चाहे और प्रयत्न करें तो कोई कारण नही कि छात्रो का यह दोष दूर न हो जाए।

ऐसा नही कि यह सुधार केवल शिक्षको के ही हित मे होगा। इस सुधार का लाभ छात्रो तथा खुद उनके अभिभावको को भी कम नही होगा। स्पष्ट है कि जो छात्र अपने अध्यापक के प्रति, जो उसका ज्ञानदाता गुरु है, भ्रष्ट तथा अविनीत होगा, वह घर मे गुरुजनो के प्रति भी अनुशासित तथा विनम्र नही हो सकता। विनम्रता फूल मे महकने वाली सुगन्ध की तरह एक माननीय गुण है वह यदि एक स्थान पर प्रगट होगा तो दूसरे स्थान पर भी ठीक उसी प्रकार प्रकट होगा जिस प्रकार फूल की सुगन्ध हर व्यक्ति के प्रति समान रूप से ही प्रगट होती रहती है। जिस छात्र मे गुरुओ के प्रति आदर भावना होती है उसकी प्रतिभा आपसे आप परिष्कृत होती रहती है और वह तत्परता से ज्ञानार्जन करता जाता रहता है। श्रद्धालु छात्र शिक्षक की हर बात बडे ध्यान से सुनता है और विश्वास पूर्वक ग्रहण किया करता है। वह अदब तथा अपना हितैषी समझकर गुरु के दिये निर्देश का आस्थापूर्वक पालन करता रहता है जिससे उसमे चारित्रिक बल का विकास होता है। जो विनम्र है, अनुशासित तथा चरित्रबल का धनी है वह ससार की कौन-सी सफलता, कौन-सी सम्पदा

प्राप्त नही कर सकता । ससार मे जो भी लोग उल्लेखनीय उन्नति करते दिखलाई देते है, यदि उनके विद्यार्थी जीवन का पता लगाया जाये तो कदाचित् ही कोई व्यक्ति ऐसा निकले जो अध्यापको, शिक्षको तथा गुरुओ के प्रति अश्रद्धालु अथवा अविनीत रहा हो । ससार की सारी उन्नतियो का मूल अनुशासन तथा श्रद्धा की पवित्र भावना मे निहित रहता है । अनुशासन तथा श्रद्धा शून्य व्यक्ति जीवन मे कदाचित् ही उन्नति कर पाते है अस्तु अभिभावको को चाहिये कि वे अपने बालको को शिक्षको के प्रति अधिकाधिक श्रद्धालु बनाने का प्रयत्न करे । यह प्रयत्न प्रत्यक्ष रूप से शिक्षको के प्रति आदर बढाने जैसा जरूर लगता है किन्तु परोक्ष रूप मे अपने प्रति भी उसी प्रकार आदर बढाने के समान है । जिस पवित्र प्रयत्न मे छात्रो का हित, शिक्षको का सम्मान और खुद अभिभावको का आनन्द सन्निहित हो उसे न करने मे बुद्धिमानी जैसी बात तो मालूम नही होती ।

चाहे कोई वाहरी व्यक्ति वने चाहे स्वयं अभिभावक। किसी न किसी को शिक्षा गुरु वनाना ही होगा और जो शिक्षा गुरु होगा उसका दर्जा ऊँचा होगा ही।

अवोध अभिभावक अपने वालकों के शिक्षक को देखकर वहुत वार अभिवादन तक नही करते वे समझते रहते हैं कि यह तो उस संस्था का नौकर है जिसके आधार विद्यार्थियो मे मेरा भी एक लडका है। यह दम्भ एक तो यो ही मानवता के नाते ठीक नही। फिर किसी शिक्षक के प्रति तो यह और भी उचित नही। शिक्षक के मिलने पर अभिभावक को तुरन्त अभिवादन करना चाहिए। वह भावी राष्ट्र-निर्माता होता है। वच्चो का वहुत सीमा तक भाग्य विधाता होता है निश्चय ही वह अभिवादन का अधिकारी है। यह सभ्यता तथा भारतीयता दोनो के नाते उचित एवम् आवश्यक है। अच्छा तो यही है कि इसमे श्रेष्ठता भी वाधा न वने

अभिभावको द्वारा आदर पाकर शिक्षक की आत्मा पुलक उठती है। वह अपने पद की गरिमा अनुभव करताहै जिससे उसमे उत्तरदायित्व की वृद्धि होती है। विनम्र अभिभावक के वालक की तरफ उसका प्रेम स्वाभाविक रूप मे वढ जाता है। जिसका लाभ उसे पहुँचे विना नही रहता। वच्चे के शिक्षक के आने पर उसका उठकर स्वागत करना चाहिए। वह गुरु हैं, राष्ट्र का गुरु है भले ही उस समय वह उन अभिभावक का गुरु न हो। अभ्यागत का स्वागत खडे होकर ही करना चाहिए और जाते समय उसे द्वार तक पहुँचाना भारतीय सस्कृति की विशेपता है आर्य मान्यता है। जिसका पालन सभी को करना ही चाहिये। यह नियम, अभ्यर्थना सामान्य व्यक्तियो तक के लिये है फिर गुरु तो गुरु ही है। इस प्रकार अभिभावक द्वारा अपने शिक्षक का आदर होते देख छात्र स्वय भी उनका आदर तथा अदव करने लगेगा।

अभिभावको को चाहिए कि वे शिक्षको की निन्दा तो कभी न करे। एक तो निन्दा पिशुनता की तरह एक दुर्व्यसन है जो किसी भी भद्र व्यक्ति के लिए अशोभनीय है फिर गुरु की निन्दा करना तो और भी वुरा है। निन्दा करने से शिक्षक का तो कुछ विगड़ता नही छात्र मे जरूर उनके प्रति अनादर भाव वढता है। यह एक दोप है वच्चो को किसी भी दोप से सुरक्षित रखना

हर अभिभावक का न केवल कर्त्तव्य ही है बल्कि धर्म है। जो विद्यार्थी अपने अभिभावक को शिक्षक की निन्दा करते देखता सुनता है वह भी निन्दा करने लगता है। जिसकी निन्दाकरेगा उसके प्रति अश्रद्धालु तथा भ्रष्ट होना स्वाभाविक है जिस छात्र मे ऐसा दोष आया नही कि विद्या सम्बन्धी उसका भविष्य अंधकार से घिरा नही ।

यदि कोई कारण है और उसका प्रमाण भीहै तो किसी हद तक आलोचना तो की जा सकती है सो भी स्वस्थ एव सृजनात्मक। कटु तर्कंग अथवा ध्वसात्मक नही। बल्कि इससे अच्छा यह रहे कि आलोचना करने के बजाय चलकर शिक्षक के पास पहुँचा जाये और विचार विनिमय द्वारा आलोचना का कारण दूर कर लिया जाये सभी अध्यापक दूध के धोये नही होते वे भी आखिर मनुष्य होते है। उनमे भी कमी तथा दोष हो सकता है और शिकायत कामौका आ सकता है। ऐसे अवसर पर भी भद्रता से नीचे उतर कर अध्यापक को उल्टी-सीधी नही सुनाने लगना चाहिए और न उसके पास जाकर देशकाल काविचार किये बिना एकदम बरस ही पडना चाहिए। यदि कोई शिकवा करना है तो उन्हे अलग बुलाकर धीरे-धीरे भद्र शब्दो मे ही करना चाहिए। इस प्रकार कि यदि वहा पर कोई छात्र मौजूद हो तो उनको उसका पता न चले अन्यथा उन पर कुप्रभाव पड़ेगा। बात यदि गम्भीर हो और आपस मे न निपटती हो तो भद्रता पूर्वक उच्चाधिकारियो तक पहुँचा जा सकता है। यह सब कुछ किया जा सकता है किन्तु उनकी खुले आम निन्दा करना अथवा छात्रो के सम्मुख ही आलोचना पर टूट पड जाना इस प्रकार कि उसके स्वाभिमान को ठेस लगे किसी प्रकार भी उचित अथवा समीचीन नही। इस विषय मे अभिभावको को अधिक से अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। जो अभिभावक शिक्षको की निन्दा नही करते उनके बच्चे भी उनकी आलोचना करते नही पाये जाते फलस्वरूप अध्यापक की अधिकाधिक शुभ भावनाओ के अधिकारी बनते है।

आजकल शिक्षा' शिक्षार्थी शिक्षा सस्थाएँ तथा शिक्षापद्धति सभ्य वर्ग के वार्तालाप का विषय बनी हुई है। कारण स्पष्ट है आये दिन विद्यार्थियो

भी हड़तालें उपद्रव तथा आन्दोलन। यह चर्चायें न केवल घरों बैठकों अथवा सभा सोसाइटियो मे ही होती बल्कि रेलो, बसो, पार्कों, रास्ता होटलो तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो पर भी होती रहती है। ऐसे समय अभिभावकों को सयम से काम लेना चाहिए। उन्हे खुले आम सार्वजनिक स्थानो पर अध्यापकों की आलोचना नही करने लगना चाहिए। उन स्थानो पर न केवल जनता ही बल्कि विद्यार्थी भी रहते है। शिक्षकों के विरुद्ध आलोचनापूर्ण चर्चा का उत्तर चर्चा से दिया ही जाता है। तथापि यदि शिक्षकों की कटु आलोचना बचाई जा सके तो अच्छा रहे और यदि शिक्षको के विषय मे बिना कुछ कहे न बने तो विद्यार्थी वर्ग की वर्तमान दुरावस्था का दोष उन्हे कम से कम दिया जाये और विद्यार्थी की तुलना मे तो उन्हे पूर्णत. निर्दोष ही बतलाना ठीक रहेगा। इस प्रकार यदि कोई छात्र उस चरचा को सुन भी रहे होगे तो शिक्षकों के प्रति उनकी अश्रद्धा को प्रोत्साहन न मिलेगा। वे अधिकाधिक अपने को ही दोषी समझेगे और लोक–लज्जा के साथ अपने हित के आत्म सुधार के लिये तत्पर हो सकते है।

बहुत से अभिभाव अपने लाडिलो की शिकायत सुनकर उनका समर्थन करने लगते हैं और शिक्षकों के प्रति अन्यथा विचार व्यक्त करने लगते हैं। यह स्वभाव छात्रो को अश्रद्धालु बनाने का सीधा-साधा प्रयत्न है। जो किसी प्रकार भी हितकर नही है। इस समर्थन का छात्र पर कुप्रभाव पडता है और वह अधिकाधिक अविनीत बन जाता है। बात सही भी हो तब भी छात्र को ही शिकायती भावना के प्रति हतोत्साह करना चाहिए। भले ही उसे कुछ कष्ट हो, इसकी परवाह नही करनी चाहिए, यदि कोई बुराई दूर करने मे बच्चो को कोई कष्टकर बात भी हो तो भी अधिक भावुकता मे नही बह जाना चाहिये। बच्चे की शिकायत सुनकर शिक्षकों के पास उलाहना लेकर तो कदापि भी नही जाना चाहिए, इससे तो उस छात्र का दुसाहस और भी बढ जायेगा और वह अध्यापक के प्रति अदब ही खो बैठेगा और समय-समय पर उनका अपमान करने मे भी नही चूकेगा। अपने बच्चे को ऐसे गलत रास्ते पर डालने का मतलब है उसकी जिन्दगी खराब करना।

बहुत बार अभिभावक बच्चो की शिक्षा प्रगति देखने पहुँच जाते है और उन्हे कमजोर पाकर तुरन्त निराशा व्यक्त करते हुये बडबडाने लगते है—आज कल अध्यापक पढाते क्या है? बेगार टालते है। तैयारी करके नही आते यों ही उल्टा-सीधा वक्त काटकर पीरियड पूरा कर देते है जब उन्हे खुद ही कुछ नही आता तो पढायेगे क्या खाक? बच्चे बेचारे भी क्या करे जब उन्हे ठीक से पढाया ही नही जायेगा तो योग्यता बढेगी भी कहाँ से। अभिभावको का इस प्रकार बडबडा उठना बच्चो पर बडा बुरा प्रभाव डालता है। वे अपने शिक्षको को नालायक और निकम्मा समझ उनके प्रति और भी अश्रद्धालु हो जाते है अपनी गलती अध्यापको के सिर जाती देख कर बडे खुश होते है। उनको यह खुशी उन्हे और भी कामचोर बना देती है और वे पढने की ओर से और भी उदासीन होने लगते है। पढाई मे कमजोर देखकर शिक्षक की आलोचना करने के स्थान पर छात्र को ही अधिक मेहनत करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। बच्चो के सम्मुख शिक्षक की खामी निकालना ठीक नही। ऐसे बच्चे अध्यापक की बात ठीक से नही सुनते फलत अपनी ही हानि करते रहते है।

इस प्रकार अभिभावक अध्यापको की अलोचना अथवा निन्दा न करते हुए बच्चो मे उनके प्रति अधिकाधिक श्रद्धा बढाने का प्रयत्न करे और इस बात की प्रेरणा दे कि वे अपने शिक्षको का अधिकाधिक आदर करे उनके प्रति अधिक से अधिक आस्थावान तथा विनम्र बने रहे। ऐसा करने से शिक्षक तथा शिक्षार्थियो के सम्बन्ध अच्छे होगे और छात्रो की वर्तमान दुरावस्था मे सुधार होगा।

सहशिक्षा न उपयोगी है न आवश्यक

राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए पुरुष वर्ग के साथ-साथ महिला उत्थान की आवश्यकता भी अत्यधिक है। पिछले दिनो के विदेशी आक्रमणो तथा सामाजिक कुरीतियो से विवश होकर नारी को जो कैद देदी थी उसे राजनैतिक स्वाधीनता के बाद तोडना भी बहुत आवश्यक हो गया। अब तक

स्त्रियाँ नितान्त परावलम्बी, अशिक्षित, पर्दाशील और सामाजिक बन्धनो से ऐसी जकड़ी हुई है कि उनके साथ कितना ही घोर अमानुषिक व्यवहार होता रहे किन्तु वे 'सी' तक न कर सके। स्त्रियो को शिक्षा मे वर्तमान प्रगति उन सम्पूर्ण कुरीतियो और विवशताओ को मिटाने वाली सिद्ध होगी यह निर्विवाद है। स्त्रियो की शिक्षा मे जितनी अधिक प्रगति होगी, सामाजिक ढाँचा उतनी ही तेजी से परिवर्तित और विकसित होता चला जायगा। स्त्री शिक्षा की उपयोगिता नि सदेह बहुत अधिक है।

किन्तु जिन मूल-भूत उद्देश्यो को लेकर नारी शिक्षा की हिमायत की जाती है वे सह-शिक्षा अर्थात बालक बालिकाओ के साथ-साथ पढने से पूरे नही होते वरन् अनेक बुराइयाँ ही उत्पन्न होती दिखाई देती है। स्त्री-पुरुष परस्पर निकट आकर एक दूसरे को समझे, यह तो ठीक है किन्तु शिक्षा का अपना निजी उद्देश्य है। इसमे बालक-बालिकाओ के मानसिक स्तर को ऊँचा उठाने, बौद्धिक, शारीरिक तथा नैतिक क्षमताये उपलब्ध करने की बात सोची जाती है, अत. शिक्षा-काल मे लडके-लडकियाँ एक दूसरे का अध्ययन करे यह आवश्यक नही है। इतनी क्षमता यदि उनमे रही होती तो उन्हे शिक्षा की आवश्यकता ही न पडती। शिक्षा का उद्देश्य उनके इसी विचार बल को बढाना होता है।

एक निश्चित अवस्था होती है जब तक कि बालक और बालिकाये साथ-साथ रहे तो कुछ नुकसान नही, किशोरावस्था समाप्त करने के उपरान्त ही उनमे एक दूसरे के प्रति आकर्षण, लज्जा और सकोच की भावना उत्पन्न हो जाती है फलस्वरूप उनका एक दूसरे से दूर रहना आवश्यक है। लडकियो को इस अवधि मे अभिभावको का सरक्षण मिले उतना ही अच्छा है, किन्तु सह शिक्षा ने इस आवश्यकता को बुरी तरह ठुकराया है। इन दिनो विद्यार्थी वर्ग मे जो व्यापक रूप से चरित्र भ्रष्टता व्याप्त है उसका एक प्रबल कारण यह सह शिक्षा ही है। अबोध बालिकाओ को अपने भावी जीवन का पता नही होता, उनमे इतनी तार्किक कुशलता या विवेक नही होता जो किसी बात के उचित अनुचित के प्रश्न को सहज ही मे सुलझा सके फलस्वरूप वे उद्दण्ड

और स्वेच्छाचारी लडको के इन्द्रजाल मे फ ... है। स्वत जीवन बरबाद करती और ... बनती है। इस बढती हुई दुश्चरित्रता ... व्यक्ति यह मानने को तैयार नही होगा कि वर्तमान ... प्रणाली को इसी तरह चलने रहने दिया जाए।

क्या सहशिक्षा भारत के लिये व्यवहार्य है ?

आज देश मे सहशिक्षा का प्रश्न एक समस्या बना ... एक वर्ग इसके पक्ष मे है और एक वर्ग विपक्ष मे । ... मे शिक्षित वर्ग और विचारक वर्ग को ही लिया गया है। ... से तात्पर्य नही है जिनकी गणना जनसाधारण, अशिक्षित, ... प्रतिगामियो मे है। ये वर्ग सहशिक्षा के पक्ष-विपक्ष मे गौण ... स्त्री-शिक्षा के भी विरोधी होते हैं।

यहाँ पर 'वर्ग' की परिधि मे ऐसे लोग ही लिये गये है जो सामान्य जनता से अधिक प्रगतिशील तथा स्त्री-शिक्षा के समर्थक है । सहशिक्षा का मतलब स्त्री-शिक्षा से नही है वरन् लडके-लडकियो को एक साथ पढाये जाने से है।

इस प्रकार के नारी-शिक्षा के समर्थक प्रगतिशील वर्ग के दो पक्ष है। एक कहता है कि लडकियो को पढाया तो जाये, उन्हे ऊँची शिक्षा दी जाये, हर क्षेत्र मे प्रशिक्षित किया जाये, यह समाज व राष्ट्र के हित मे है, किन्तु उनको लडको के साथ मिलाकर पढाना कम से कम भारतीय समाज के हित मे नही है : इससे भारतीय सभ्यता के मूल-भूत आदर्शो पर बुरा प्रभाव पडता है। दूसरे पक्ष का कहना है कि सहशिक्षा से समाज को अनेक प्रकार के लाभ है। इससे देश मे प्रगतिशीलता आती है। सभ्यता का विकास होता है, समाज का पिछडापन दूर होता है ।

सहशिक्षा के समर्थको का कहना है कि सहशिक्षा से लिग भेद की भावना मे कमी होती है। अधिक समय स्वतन्त्रता पूर्वक पास-पास रहने से

लड़के-लड़कियों के एक दूसरे के प्रति जिज्ञासापूर्ण आकर्षण में शिथिलता आती है जिससे वासनात्मक प्रवृत्तियाँ दबी रहती है। वे एक दूसरे के लिये अजनबी जैसी चीज नही रहते। उनको स्त्री-पुरुष की प्रवृत्तियों को समझ सकने का अवसर रहता है जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है, जो उनके विवाहित जीवन के लिये बड़ा हितकर होता है।

विपक्ष के लोगों का कहना है कि सहशिक्षा मे लिंग भेद की भावना मे कमी भले होती हो उसमे सस्तापन जरूर आ जाता है। यदि एक बार यह मान भी लिया जाये कि स्वतन्त्रतापूर्वक सम्पर्क प्राप्त हो जाने से लड़के-लड़कियों मे एक दूसरे के प्रति जिज्ञासापूर्ण आकर्षण की कमी हो जाती है तो भी यह जीवन की सरसता के लिये हानिकारक है। जिस दिन मानव-द्वन्द एक दूसरे के प्रति अपना आकर्षण खो देगा उसी दिन से उसके जीवन मे प्रेम की कमी होने लगेगी और एक यान्त्रिक नीरसता आने लगेगी।

जहाँ तक वासनात्मक प्रवृत्तियो के दबे रहने का प्रश्न है, स्त्री-पुरुष की निकटता इसमे सहायक नही हो सकती। स्त्री-पुरुष की निकटता वासना को उत्तेजित करती है, दबाती नही। नर-नारी के सम्पर्क से वासनात्मक प्रवृत्तियो के शिथिल होने की कल्पना असङ्गत है, यदि ऐसा न होता तो संयम के सार्वभौमिक नियमो मे स्त्री सम्पर्क से दूर रहने का सर्वमान्य नियम न होता।

सहशिक्षा के कारण अधिक पास-पास रहने से सम्भव है कि लड़के-लड़कियाँ एक दूसरे की प्रवृत्तियाँ तथा मौलिक स्वभाव समझ सकने का लाभ उठा सके। किन्तु इस स्थिति मे उनका यह लक्ष्य कब होता है? और अधिक से अधिक यदि समझने की कोशिश भी करेंगे तो एक दूसरे की मानसिक दुर्बलतायें अथवा प्रेम प्रवृत्तियो को समझने का प्रयत्न करेंगे। उनका यह अध्ययन उनको कोई स्थाई अथवा हितकर लाभ पहुँचाने के बजाय पतन की ओर ही ले जाने मे सहायक हो सकता है।

सहशिक्षा के समर्थको का तर्क है कि इससे हजारो साल छिपी दबी भारतीय नारी मे साहस आता है, पुरुष के सम्पर्क मे उसका दब्बूपन दूर

हो जाता है वह अधिक साहसिनी और निडर बनकर समाज मे पुरुष के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर चलने योग्य बनती है।

सहशिक्षा के पक्षपातियो के इस तर्क पर विपक्षियो का कहना है कि नारी का निडर, साहसिनी और नि.सकोच होना शुभ स्थिति मे उसके धृष्ट तथा दु शीला हो जाने का अधिक भय रहता है। वास्तविकता यह है मनो विकास के यह गुण शिक्षा की देन होते है न कि पुरुष-सपर्क की। इसकी सभावनाये नारियो को अलग शिक्षा देकर भी उत्पन्न की जा सकती है। उसके लिये सहशिक्षा का फिसलन भरा मार्ग अपनाना क्या जरूरी है?

सहशिक्षा के पक्ष प्रतिपादको का कहना है कि लडके और लडकियो की अलग अलग शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिये भिन्न-भिन्न विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो की आवश्यकता होती है, जिससे राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था पर अनावश्यक दबाव पडता है सहशिक्षा की व्यवस्था से राष्ट्र के पैसे की बचत होगी जो कि दूसरे विकास कार्यो मे लगा या जा सकता है।

इस प्रकार सहशिक्षा के पक्ष एवम् विपक्ष मे न जाने कितने तर्क तथा तथ्य सामने लाये जा रहे हैं। किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने से इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पडता है कि सहशिक्षा भारत की सभ्यता एव सस्कृति के अनुरूप व्यवहार्य नही है। इसमे ऊपर ऊपर से घुमा फिरा कर भले ही कोई लाभ दिखा दिये जाये। वस्तुत इससे हानि ही अधिक है। सहशिक्षा के समर्थक सहज न लाभो को तो देखते है किन्तु इससे होने वाली मूल एव महत्वपूर्ण [illegible] हानि की ओर दृष्टिपात करने का प्रयत्न नही करते। और यह होता है [illegible] प्रगतिशील पाश्चात्य दृष्टिकोण के कारण जिसमे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध तथा लडके लडकियो के सम्पर्क के कारण उत्पन्न होने वाली विकृतियो को [illegible] सामान्य प्राकृतिक प्रक्रिया समझ कर कोई महत्व नही दिया जाता। यह [illegible] सभ्यता की अपनी एक विशेषता है। किन्तु भारतीय सभ्यता की [illegible] विशेषता इसके विपरीत है। वह नारी-पुरुष के स्वतन्त्र असामयिक तथा [illegible] सम्बन्ध [illegible] दुराचार मानती है और कठोरता पूर्वक इनका [illegible] है। भारतीय सभ्यता मे स्त्री-पुरुषो के शारीरिक सम्बन्धो का

एक समय है, एक नियम है और एक मान्यता है जब कि पश्चात्य सभ्यता मे ऐसा कुछ विशेष प्रतिबन्ध नही है। इसलिये सहशिक्षा पाश्चात्य देशो की सभ्यता सस्कृति के अनुरूप व्यवहार्य हो सकती है किन्तु भारत के लिये कदाचित नही।

भारतीय सभ्यता मे प्राचीनकाल से स्त्री-शिक्षा का समर्थन ही नही प्रचलन भी रहा है। देश के प्राचीन ऋषि आश्रमो मे लडको की तरह बालिकाओ के भी गुरुकुल रहे है। किन्तु वे होते थे प्रथक-प्रथक ही। सहशिक्षा का उल्लेख कही नही पाया जाता है।

आधुनिक भारत मे सहशिक्षा के प्रयोग चल रहे है किन्तु उनके परिणामो को देखते हुए निराश ही होना पड रहा है। प्रथक-प्रथक शिक्षा पाने वाले छात्र तथा छात्राओ की अपेक्षा सहशिक्षा वाले छात्र-छात्राये अधिक पथभ्रष्ट हो रहे है। शिक्षा काल की सच्ची आयु मे उन पर न तो कोई सामाजिक उत्तरदायित्व होता है और न उनकी बुद्धि ही पर्याप्त रूप मे परिपक्व होती है। इसलिये उनका पैर फिसलते देर नही लगती। आचरणहीनता की न जाने कितनी घटनायें सहशिक्षा सस्थाओ की चहारदीवारी से निकल-निकल कर कानो मे आती है।

एक दूसरे को रिझाने और मन भाने की सम्पर्कजन्य निर्बलता के कारण सहशिक्षा-विद्यालयो के छात्र-छात्रायें अपेक्षाकृत अधिक फैशन परस्त चचल और चपल हो जाते हैं। इतना ही नही अपने मनोरथ पर अनुशासन प्रतिबन्ध लगने पर वे विद्रोही तथा ढीठ हो जाते हैं। प्रेमी और प्रेमिकाओ के झूठे तथा उन्मादजन्य सम्बन्धो के कारण छात्रो मे लडाई-झगडे होते रहते हैं जिससे उनमे अपराध वृत्ति बढती है। इसी कारण से आज शिक्षित अपराधियो की वृत्ति राष्ट्र की एक भयङ्कर समस्या बनती जा रही है। प्रेम सबन्ध प्रेम विवाह और प्रेम पलायन जैसी अवाछनीय विकृतियो की पोषक सहशिक्षा को ही कहा जा सकता है।

विद्या अध्ययन के लिये जिस शारीरिक तथा मानसिक सयम को अनिवार्य माना गया है उसका पालन सहशिक्षा की व्यवस्था मे सम्भव नही तो

दु हसाध्य तो है ही सहशिक्षा की दुविधा [illegible]
दूसरे को देखने, परस्पर बातें करने, हास्यविहार [illegible]
से अधिक रुचि लेते है जिससे दिन दिन [illegible]
आते है ।

इतना ही नही सहशिक्षा के प्रभाव से छात्र-छात्राओ के [illegible]
तथा पत्नी व्रत की महानता नष्ट होती जाती है [illegible]
सभ्यता एव सस्कृति की मूल मान्यताओ के विनाश के [illegible]
सकता है । यह और इस प्रकार की न जाने कितनी बाते है [illegible]
कहना पडता है कि सहशिक्षा भारतीय आदर्शो के अनुरूप [illegible] ।



मुद्रक—युग निर्माण प्रेस, गायत्री तपोभूमि मथुरा ।